सत्य धर्म प्रवेशिका

(५०१ से १०००)

जो जीव, राग-द्वेषरूप परिणमित होने पर भी मात्र शुद्धात्मा में (द्रव्यात्मा में = स्वभाव में) ही 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दर्शन वैराग्यादि योग्यताओं के बिना प्राप्त नहीं होता।

लेखक – C.A. जयेश मोहनलाल शेठ
(बोरीवली) B.Com., F.C.A.

सत्य धर्म प्रवेशिका

हिन्दी

501 to 1000

अर्पण

माता – पूज्य कान्ताबेन

पिता – पूज्य स्वर्गीय मोहनलाल नानचन्द शेठ

भाई – श्री रश्मिनभाई मोहनलाल शेठ को

जो जीव, राग-द्वेषरूप परिणमित होने पर भी मात्र शुद्धात्मा में (द्रव्यात्मा में=स्वभाव में) ही 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन वैराग्यादि योग्यताओं के बिना प्राप्त नहीं होता।

लेखक: CA. जयेश मोहनलाल शेठ (बोरीवली)
B.Com., F.C.A

सम्पादन: श्री मनीष मोदी

प्रकाशक: श्री शैलेशभाई पूनमचन्द शाह

- अनुमोदक -
Brescon Foundation

WWW.JAYESHSHETH.COM

501. जब हम सत्य धर्म के विरुद्ध बोलते हैं तब नियम से अपना भविष्य दु:खमय होगा यह तय है।

502. जब हम सत्य धर्म के विरुद्ध प्रचार करते हैं तब नियम से अपना भविष्य दु:खमय होगा यह तय है।

503. जब हम सत्य धर्म के विरुद्ध आचरण करते हैं तब नियम से अपना भविष्य दु:खमय होगा यह तय है।

504. हमें अपना आकलन अपने मन-वचन-काय के परिणाम देखकर करना है न कि दूसरों के अभिप्राय सुनकर। साथ ही हमें अपनी वाणी और वर्तन भी सुधारने का प्रयास जारी रखना है।

505. लोग अपनी वाणी और वर्तन दिखावे के लिये भी अच्छे रखने का प्रयास करते रहते हैं। लेकिन अपने मन को सुधारने का संकल्प कभी नहीं करते क्योंकि वही उनका अभिप्राय भी होता है।

506. सच्चे सुख के लिये सबसे पहले मन:शुद्धि आवश्यक है। इसलिये सब का यही कर्तव्य है।

507. मन शुद्ध होने से वाणी और वर्तन अपने-आप ही धीरे-धीरे शुद्ध होने लगते हैं।

508. ताना मारकर हम दूसरें को दु:खी करते हैं और ख़ुद भी दु:खी हैं यही बताते हैं ।

509. जब हम किसी को ताना मारते हैं तब नियम से हम अपने लिये कई बार ताना सुनना तय कर लेते हैं। इसलिये हमें किसी को भी ताना मारने से बचना चाहिये!

510. ताना मारकर हम पाप का बन्ध कर लेते हैं जिससे हमारा भविष्य में दु:खी होना तय हो जाता है। इसलिये हमें किसी को भी ताना मारने से बचना चाहिये!

511. कई बार कम मेहनत से भी सफलता मिल जाती है और कई बार अथक प्रयास करने के बाद भी सफलता नहीं मिलती। इसका कारण क्रमश: पुण्य और पाप का उदय है।

512. सफलता पुण्य के उदय से मिलती है। जो लोग अपनी सफलता का अहंकार करते हैं वे पाप बाँधते हैं।

513. जिसे यह संसार अच्छा लगता है, उसका आत्महित होना कठिन है।

514. जिसे अपना आत्महित साधना है, उसे इस संसार के स्वरूप पर विचार करके उसकी असारता समझना आवश्यक है।

515. जिसे इस संसार का सत्य स्वरूप समझ में आ जाता है, उसका आत्मकल्याण होना तय हो जाता है।

516. आत्मकल्याण के लिये सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) पाना आवश्यक है।

517. सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) पाने के लिये सांसारिक जीवन त्यागना आवश्यक नहीं किन्तु अपने मन के संसार को समाप्त करना परम आवश्यक है।

518. वर्तमान में सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) के बारे में बहुत सारी भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। जैसे कि आत्मज्ञानी संसार में नहीं रहता, उसे तिलतुष मात्र भी राग-द्वेष नहीं होता, वह धनप्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करता, वह पूर्ण ब्रह्मचारी होता है, वह शादी नहीं करता, इत्यादि। इसका कारण यह है कि लोग आत्मज्ञानी को चौथे या पाँचवें गुणस्थान में न समझकर उसे छठवें गुणस्थानवाला समझ लेते हैं।

519. जीव गृहस्थ जीवन में रहकर भी आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। आत्मज्ञान पाकर भी वह गृहस्थ जीवन में रह सकता है क्योंकि उसके मन का संसार (भाव-संसार) ख़त्म हुआ है न कि द्रव्य-संसार।

520. सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त करने के लिये पहले अपनी इच्छाओं पर बारह भावनाओं से काम करके उन्हें कमज़ोर बनाना आवश्यक है। न कि संसार छोड़ना, जो कि हम अनन्त बार कर चुके हैं मगर सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त नहीं किया।

521. आत्मज्ञानी अपने जीवन निर्वाह के लिये उचित अर्थोपार्जन कर सकता है, उससे उसका आत्मज्ञान चला नहीं जायेगा। उसे पता है कि वह अर्थोपार्जन केवल अपने कर्तव्य-पालन के लिये ही कर रहा है। वह उसे करने योग्य हरगिज़ नहीं मानता। जिस दिन उसका मनोबल दृढ़ हो जायेगा उस दिन वह धन, संसार, इत्यादि सब कुछ त्याग देगा।

522. आत्मज्ञानी अपनी कमज़ोरी की वजह से शादी भी कर सकता है, उससे उसका आत्मज्ञान चला नहीं जायेगा। उसे पता है कि वह शादी केवल अपनी कमज़ोरी के कारण ही कर रहा है। वह उसे करने योग्य हरगिज़ नहीं मानता। जिस दिन उसका मनोबल दृढ़ हो जायेगा उस दिन वह धन, संसार, इत्यादि सब कुछ त्याग देगा।

523. आत्मज्ञानी को भी उसके गुणस्थान के अनुसार राग-द्वेष होते हैं, उससे उसका आत्मज्ञान चला नहीं जायेगा। उसे पता है कि वह राग-द्वेष केवल अपनी कमज़ोरी के कारण कर रहा है, वह उन्हें करने योग्य हरगिज़ नहीं मानता।

524. लोग यह मानकर कि सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त करने के लिये संसार छोड़ना पड़ता है, धर्म से कोसों दूर भागते हैं। यदि उनके परिवार का कोई सदस्य भी धर्म करता है तो वे उसे कहते हैं कि "यह सब (धर्मक्रिया) अपने लिये नहीं है क्योंकि हम तो संसारी हैं, हमें साधु नहीं बनना।" वास्तव में जीव गृहस्थ जीवन में रहकर भी आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है।

525. कुछ लोग बिना मोक्ष के लक्ष्य के धर्मक्रिया करते हैं लेकिन उन्हें यह नहीं पता कि बिना मोक्ष के लक्ष्य के हम जो भी धर्म करते हैं उसका फल संसार ही है।

526. जब हम मोक्ष के लक्ष्य से कोई भी धर्मक्रिया करते हैं तब हम धीरे-धीरे सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) के क़रीब पहुँचते हैं। सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) ही सत्य धर्म का प्रवेशद्वार है।

527. अनादि से हमने बिना मोक्ष के लक्ष्य के ही अनन्त बार धर्मक्रिया की है, इसलिये आज तक हमारा आत्मकल्याण नहीं हुआ है और हम इस संसार में भटक रहे है। अब हमें एकमात्र मोक्ष के लक्ष्य से ही सभी धर्मक्रियाएँ करनी चाहिये।

528. जो लोग सांसारिक इच्छापूर्ति के लिये धर्मक्रिया करते हैं, उनका आत्मकल्याण होना सम्भव ही नहीं। बल्कि वे पापानुबन्धी पुण्य बाँधकर और दुःखी होते हैं । इसलिये अब हमें एकमात्र मोक्ष के लक्ष्य से ही सभी धर्मक्रियाएँ करनी चाहिये।

529. हर एक जीव अपनी सुरक्षा चाहता है लेकिन उसके लिये आवश्यक पुण्य करने की जगह वह पाप में ही मग्न रहता है। ऐसे में उसका सुरक्षित रहना अत्यन्त कठिन है।

530. अपनी सर्वोच्च सुरक्षा एकमात्र मोक्ष में ही सम्भव है, जिसकी लोग कभी इच्छा भी नहीं करते। तथापि हर जीव अपनी सुरक्षा की चाह तो रखता ही है।

531. लोग अपनी सुरक्षा हेतु इस जगत में कई लोगों से नये बन्धन बाँधते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि यह सब करके भी असुरक्षा का भाव जाने की कोई गारण्टी नहीं। असुरक्षा का भाव एकमात्र सत्य धर्म पर चलने से ही कम होते-होते एक दिन पूर्ण रूप से चला जाता है।

WWW.JAYESHSHETH.COM

532. जब यह तय हो जाय कि सच्चा सुख बाहर नहीं मिलेगा, तब जीव उसकी खोज अन्दर यानी आत्मा में करना शुरू कर देता है।

533. कई लोग यह पढ़कर कि सच्चा सुख बाहर नहीं है, यह बात सबको बताने लगते हैं। लेकिन उन्हें स्वयं इस बात पर कितना विश्वास है, यह उनके अभिप्राय से पता चलता है।

534. जिसके अभिप्राय में यह बात बैठ गयी है कि सच्चा सुख बाहर नहीं है, उसका मन दुनियादारी से हट जाता है और उसका अधिकांश समय आत्मशोध में लग जाता है।

535. जिसके अभिप्राय में यह बात बैठ गयी है कि सच्चा सुख बाहर नहीं है, वह जीव सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) के नज़दीक पहुँच गया है।

536. जिसके अभिप्राय में यह बात नहीं बैठ रही है कि सच्चा सुख बाहर नहीं है वह नियम से सुखाभास के पीछे लगा रहता है। वह जीव सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) से वंचित रह जाता है।

537. यह आवश्यक नहीं कि सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) जीव को कोई चीज़ अच्छी या बुरी न लगे परन्तु उसे किसी भी सांसारिक चीज़ की आरज़ू या तमन्ना नहीं होती। वह सांसारिक सुखों के प्रति प्राय: निरासक्त रहता है।

538. सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) जीव प्राप्तव्य का अपनी कमज़ोरी के कारण निरासक्ति से भोग कर लेता है और यदि प्राप्त न हो तो प्राय: विचलित नहीं होता।

539. सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) जीव अपनी कमज़ोरी के कारण भोग भी कर सकता है और समय आने पर त्याग भी। दोनों स्थितियों में वह प्राय: निरासक्त तथा अविचलित रहता है।

540. सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) जीव अपनी निरासक्ति के कारण संसार में रहकर भी संसार से प्राय: मुक्त रहता है।

541. सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) जीव छल-कपट-प्रपंचों से दूर रहकर अपना जीवन निर्वाह करता है। उसकी साधना आत्मकेन्द्रित ही होती है।

542. यदि किसी कारणवश सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) संसार में रहता है तो वह प्राय: जलकमलवत निर्लिप्त रहता है। वह सांसारिक संयोग-वियोग से प्राय: विचलित नहीं होता।

WWW.JAYESHSHETH.COM

543. स्वतत्त्व की खोज करने से आत्मा प्राप्त होती है।

544. अभी आत्मा नाम का स्वतत्त्व शरीर-रूपी पिंजरे में क़ैद है। आत्मा जब तक शरीर की क़ैद में है तब तक दुःखों का अन्त होनेवाला नहीं। इसलिये उसे आज़ाद करानेवाले मार्ग की खोज करनी चाहिये।

545. जब तक हमें इस संसार से मोह है तब तक हमें आत्मा को आज़ाद करानेवाला मार्ग नहीं मिलता। इसलिये पहले हमें बारह और चार भावना का अभ्यास करके संसार के प्रति मोह मन्द करना चाहिये।

546. इस संसार की असारता पर चिन्तन करने से संसार के प्रति मोह मन्द होता है। इसके लिये धर्मकथानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग का भी अभ्यास करना चाहिये।

547. हम अनादि से शरीर-रूपी पिंजरे में क़ैद हैं, इस शरीर को ही अपना मानकर विषय-कषाय में लिप्त हैं और उसी से भ्रामक आनन्द लेते रहते है, इसी को शास्त्रीय भाषा में मिथ्यात्व कहते हैं।

548. हम अनादि से मिथ्यात्ववश संसार में ही आनन्द मानकर उसी की कामना करते रहते हैं। उसे लोग लॉ ऑव अट्रैक्शन (law of attraction) कहते हैं। इसका शास्त्रीय नाम निदान-शल्य है, जिससे जीव को अनादि से दुःख मिलता रहा है।

549. निदान यानी संसार के भ्रामक सुख की माँग करना। इसे शल्य इसलिये कहा है क्योंकि जब जीव कुछ माँगता है तब वह उस वस्तु के अभाव में दुःखी होता है। और जब वह माँगी हुई वस्तु मिल जाती है तब उसे रच-पच कर भोगने से पाप का बन्ध होता है जो उसका भविष्य दुःखमय बनाता है।

550. जब हम अपना और इस संसार का सत्य स्वरूप समझ लेंगे तब निदान-शल्य यानी संसार के भ्रामक सुख की माँग अपने-आप रुक जायेगी और हम सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) के नज़दीक पहुँचेंगे जिससे अपना कल्याण निश्चित हो जायेगा।

551. सांसारिक इच्छाएँ न सिर्फ़ वर्तमान में दुःख देनेवाली हैं बल्कि आर्तध्यान-रूपी पाप बँधवाकर हमारा भविष्य भी दुःखमय बनाती हैं।

552. सांसारिक इच्छाएँ कभी रुकती नहीं हैं क्योंकि जब एक पूरी होती है तो दूसरी उपस्थित हो जाती है। इस तरह से वे हमारा अनन्त संसार दुःखमय बनाती रहती हैं।

553. अगर हम अनुकूलता में पाप-बन्ध नहीं करते तो प्रतिकूलता कभी नहीं आती। इसलिये एकमात्र आत्मा के लक्ष्य से पुण्य में ही रहना है न कि पाप-पुण्य को समान समझकर पाप में रहना है।

554. आत्मा के लक्ष्य से किया हुआ पुण्य कभी भी मोक्षमार्ग में बाधक नहीं बनता। इसलिये एकमात्र आत्मा के लक्ष्य से पुण्य में ही रहना है न कि पाप-पुण्य को समान समझकर पाप में रहना है।

555. आत्मा के लक्ष्य से किया हुआ पुण्य कभी भी मोक्षमार्ग में बाधक नहीं बनता, बल्कि उसकी वजह से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का योग मिलता है और तत्त्वचिन्तन के लिये अनुकूलता प्राप्त होती है।

556. सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) हेतु तत्त्व के निर्णय के अतिरिक्त अन्य योग्यताएँ भी अनिवार्य हैं।

557. सच्चे ज्ञान का फल सुख ही होता है क्योंकि सच्चा ज्ञान ही आत्मा से सच्चा पुरुषार्थ करवाता है।

558. सत्य धर्म का उत्कृष्ट फल स्व में स्थित होना ही है।

559. सभी धर्मक्रियाओं का उत्कृष्ट फल स्व में स्थित होना ही है।

560. स्व में स्थित होना ही उत्कृष्ट धर्म है। यह जानने से धर्म समझना बहुत आसान बन जाता है।

561. जब हम एकमात्र आत्मा के लक्ष्य से ही धर्म करते हैं तब हमारा उस धर्म का उत्कृष्ट फल (लौकिक और पारलौकिक) पाना तय हो जाता है।

562. जब हम धर्म अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु करते हैं तब हमारे उस धर्म का फल पापानुबन्धी पुण्य होता है। अर्थात् उस पुण्य के उदय में हम नये पापों का बन्ध करेंगे।

563. वर्तमान हुण्डा अवसर्पिणी काल में अधिकांश पुण्य के उदयवालों को धर्म की याद आना कठिन है।

564. वर्तमान हुण्डा अवसर्पिणी काल में अधिकांश पाप के उदयवालों को भी सत्य धर्म मिलना कठिन है।

565. वर्तमान हुण्डा अवसर्पिणी काल में विशिष्ट पुण्य के उदयवालों को ही सत्य धर्म मिलता है।

566. वर्तमान हुण्डा अवसर्पिणी काल में अधिकांश पुण्य के उदयवालों को धर्म की याद अपने सामाजिक सम्मान बढ़ाने के लिये ही आती है।

567. वर्तमान हुण्डा अवसर्पिणी काल में अधिकांश लोग बिना परीक्षा किये ही गतानुगतिक धर्म करते दिखते हैं।

568. धर्म सदैव परीक्षा करके ही अंगीकार करना चाहिये। जब हम छोटी से छोटी वस्तु भी परीक्षा करके ही ख़रीदते हैं तब धर्म क्यों बिना परीक्षा किये दूसरों का देखकर ग्रहण करते हैं?

569. धर्म में जो लोग 'करना यानी मरना' समझते हैं वे संसार में बहुत सारा पुरुषार्थ करते दिखते हैं।

570. वास्तव में धर्म में 'करना यानी मरना' सिर्फ़ और सिर्फ़ शुद्धोपयोगवालों की अपेक्षा से कहा गया है। अगर हम ग़ैरसमझ से यह बात सभी के लिये मान लेंगे तो अपना भविष्य अन्धकारमय होना निश्चित है।

571. जब तक हम शुद्धोपयोग नहीं पा लेते तब तक हमारे लिये नियम से शुद्धोपयोग के लक्ष्य से धर्म की सभी उचित क्रियाएँ करना आवश्यक है। शुद्धोपयोग प्राप्त करने के पश्चात शुद्धोपयोग में ठहरने के लिये कहा गया है कि 'करना यानी मरना'। क्योंकि तब करने का विकल्प शुद्धोपयोग में रहने से रोकता है, अर्थात् निर्विकल्प अवस्था पाने से रोकता है।

572. अनेक लोगों के लिये ध्यान करना यानी किसी वस्तु, बिन्दु, क्रिस्टल, श्वासोच्छ्वास या अपने शरीर के सूक्ष्म कम्पन इत्यादि को बिना कोई प्रतिक्रिया दिये देखते रहना। ये सभी अपनी आत्मा के लिये 'पर' हैं। भगवान ने पर के ध्यान को आर्तध्यान कहा है। उससे थोड़ी देर के लिये मन शान्त ज़रूर हो जाता है जिसकी वजह से हम छले जाते हैं और वह पर का ध्यान होने से उससे पापबन्ध भी होता है।

573. अनेक लोग अपने शरीर के सुक्ष्म कम्पन इत्यादि के ध्यान से अनित्य भावना दृढ़ करते देखे जाते हैं। तब यह भी दृढ़ करना चाहिये कि संयोग अवश्य अनित्य है, मगर उसे देखनेवाला मैं (यानी आत्मा) नित्य हूँ। मैं अनादि-अनन्त हूँ। ऐसा नित्यानित्य भाव दृढ़ नहीं करने पर हम एकान्तवादी बन जाते हैं, अनित्यवादी बन जाते हैं।

574. अनेक लोगों के लिये ध्यान करना यानी किसी वस्तु, बिन्दु, क्रिस्टल, श्वासोच्छ्वास या अपने शरीर के सूक्ष्म कम्पन इत्यादि को बिना कोई प्रतिक्रिया दिये देखते रहना। इससे कई लोगों का मन कुछ काल के लिये शान्त हो जाता है, जिससे उन्हें अच्छा लगता है। इसलिये लोग इसे ही सच्चा ध्यान मानने लग जाते हैं।

575. सच्चा ध्यान सदैव आत्मकेन्द्रित ही होता है। उसे धर्मध्यान कहते हैं। धर्मध्यान के चार भेद हैं - आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय।

576. भगवान की आज्ञा का विचार/चिन्तन/मनन आज्ञाविचय धर्मध्यान कहलाता है। हर काम में हमें भगवान की आज्ञा का विचार अवश्य करना चाहिये।

577. अपने क्रोध-मान-माया-लोभ के कारण अपने साथ बँधते कर्म और उस वजह से आते दुःख का विचार/चिन्तन/मनन अपायविचय धर्मध्यान कहलाता है। यह सोचकर हमें हर वक़्त तीव्र क्रोध-मान-माया-लोभ से बचना चाहिये।

578. शास्त्रों में भगवान ने कर्मों के अनेक प्रकार बताये हैं और उसके कारण अपने साथ होने वाले संयोग-वियोग भी बताये हैं। जब तक हम कर्मों से बँधे हुए हैं तब तक दुःख से मुक्ति नहीं पा सकते यह विचार/चिन्तन/मनन विपाकविचय धर्मध्यान कहलाता है। हर वक़्त हमें यह सोचकर कर्मों के बन्धन से मुक्त होने के लिये भगवान के बताये मार्ग पर चलने का दृढ़ निर्धारण करना चाहिये।

579. शास्त्रों में भगवान ने लोक (ब्रह्माण्ड) के बारे में बताया है। उस लोक (ब्रह्माण्ड) का आकार, हमारा उसके हर प्रदेश पर जन्म-मरण और अनन्त दुःख के बारे में विचार/चिन्तन/मनन संस्थानविचय धर्मध्यान कहलाता है। हर वक़्त हमें यह सोचकर कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिये भगवान के बताये मार्ग पर चलने का दृढ़ निर्धारण करना चाहिये।

580. अनादि से हमें (आत्मा में) आर्तध्यान और रौद्रध्यान के ही दृढ़ संस्कार हैं। उन्हें तोड़ने के लिये हमें सदैव धर्मध्यान में रहने का प्रयास करना चाहिये।

581. आर्तध्यान यानी प्राप्त या अप्राप्त संयोग की चिन्ता, दुःख, आकांक्षा, निदान, पर का चिन्तन, इत्यादि।

582. रौद्रध्यान यानी प्राप्त या अप्राप्त संयोग के लिये चोरी, हिंसा, झूठ, रोष, द्वेष, संरक्षण सम्बन्धी विचार, इत्यादि।

583. सच्चा धर्मध्यान आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) के पश्चात ही होता है। मगर सभी को आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) के लक्ष्य से सदैव धर्मध्यान में रहने का प्रयास करना चाहिये।

584. निर्विकल्प शुद्धोपयोग को कई लोग निर्विचार ध्यान (thoughtful thoughtlessness) समझते हैं। निर्विकल्प शुद्धोपयोग एक सेकण्ड के भी छोटे से भाग तक ही होता है जबकि निर्विचार ध्यान कई मिनटों तक रह सकता है। निर्विकल्प शुद्धोपयोग में आत्मा अनुभव में आती है जबकि निर्विचार ध्यान में शान्त मन अनुभव में आता है।

585. कई लोग ऐसा मानते हैं कि निर्विचार ध्यान (thoughtful thoughtlessness) करने से आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति होगी। जबकि आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) के लिये वैराग्यपूर्वक तत्त्वनिर्णय और एकमात्र मोक्ष का लक्ष्य आवश्यक है, जिससे तत्त्वचिन्तन की अवस्था में अपने आप निर्विकल्प शुद्धोपयोग होता है तथा अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है।

586. आत्मा का स्वभाव ज्ञान और दर्शन है। अगर हम निर्विचार ध्यान (thoughtful thoughtlessness) करना चाहते हैं तो हम आत्मा के जानने-देखने के स्वभाव को ही अस्वीकार करते हैं। हम आत्मा के स्वभाव को अस्वीकार करके आत्मा को कैसे पा सकते हैं? कभी नहीं पा सकते।

587. आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) के लिये वैराग्यपूर्वक तत्त्वनिर्णय और एकमात्र मोक्ष का लक्ष्य आवश्यक है, जिससे तत्त्वचिन्तन अवस्था में, मैं एक जानने-देखनेवाला हूँ ऐसा चिन्तन करते हुए अपने आप निर्विकल्प शुद्धोपयोग होता है तथा अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है।

588. कई लोगों को ध्यान में कई प्रकार के अनुभव होते हैं। जैसे कि दिव्य प्रकाश का अनुभव, रोमांचित होने का अनुभव, फूल जैसे हल्के हो जाने का अनुभव, घण्टनाद सुनाई देने का अनुभव, अन्य कोई नाद सुनाई देने का अनुभव, रोम-रोम पुलकित हो जाने का अनुभव, इत्यादि। ये सभी अनुभव पौद्गलिक हैं परन्तु आत्मा पौद्गलिक नहीं है और उसका अनुभव भी पौद्गलिक नहीं होता। इसलिये इन अनुभवों को आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) मानना ग़लत होगा।

589. कई लोगों को भगवान के सम्मुख प्रार्थना या पूजा करते वक़्त अश्रुपात होता है। कई लोग इसे भी आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) का लक्षण मान लेते हैं, जो कि सही नहीं है। इससे भक्त की भक्ति और ऋजुता अवश्य दिखती है मगर इसे आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) का लक्षण मानना ग़लत होगा।

590. सुख अपने अन्दर ही है इससे अनभिज्ञ हम अनादि से पर से सुख की भीख माँगते फिर रहे हैं।

591. 'पर से सुख मिल सकता है' अपने इसी नज़रिये की वजह से हम अनादि से दु:ख झेल रहे हैं।

592. जब तक हम संसार में हैं तब तक हमें पर की ज़रूरत अवश्य रहती है परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि हमें अपना सुख बाहर से मिलेगा।

593. हम (आत्मा) जब तक शरीर में क़ैद हैं तभी तक हमें पर की आवश्यकता है, जब हम शरीर से आज़ाद (मुक्त) हो जाते हैं तब हमें पर की कोई आवश्यकता नहीं और तब हम सादि-अनन्त काल के लिये अनन्त आनन्द पाते हैं।

594. जब तक हम शरीर में क़ैद हैं तब तक हमें आवश्यकतानुसार विवेक से पर का उपयोग करना है मगर हमें उसपर मूर्छित नहीं होना है और न ही ऐसा मानना है कि उससे सुख मिलेगा।

595. जब हम मैत्री भावना के साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं तब हम स्वयं ही अपने परम मित्र हैं। और जब हम वैर-विरोध-शत्रु भावना के साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं तब हम स्वयं ही अपने परम शत्रु हैं। क्योंकि हम ख़ुद ही अपनी भावना से अपना भविष्य तय करते हैं।

596. वैर और शत्रुता से पाप के बन्ध और अनुबन्ध दोनों होते हैं। पाप का बन्ध दु:ख देता है और अनुबन्ध उस दु:ख के काल में फिर से पाप का बन्ध कराता है, फिर से वैर और शत्रुता कराता है।

597. वैर और शत्रुता से अपने वर्तमान और भविष्य दोनों ही बिगड़ते हैं। वे वर्तमान में अपनी मनोदशा और भाव बिगाड़ते हुए दु;ख देते हैं और भविष्य में इस बन्धे हुए पाप के उदय से दु:ख मिलता है।

598. वैर और शत्रुता से हम उस जीव या वैसे अन्य जीवों के साथ अनेक जन्मों तक लड़ते-झगड़ते रहते हैं। ऐसा करने से हम हर बार अपना वर्तमान और भविष्य दु:खमय बना लेते हैं।

599. वैर और शत्रुता के अनन्त दु:खमय फलों से बचने के लिये एकमात्र आत्मभाव से आजीवन मैत्रीभाव में रहना आवश्यक है।

600. आजीवन मैत्रीभाव में रहने के लिये हर एक व्यक्ति और संयोग के साथ "धन्यवाद! स्वागतम!" (Thank you! Welcome!) के भाव में रहना अति आवश्यक है।

601. जब हम अपने जीवन में सद्गुणग्राहिता पा लेते हैं तब अपना कल्याण होना निश्चित हो जाता है।

602. सद्गुणग्राहिता यानी अन्य जीवों के गुणों के प्रति आदर और प्रीति। इससे वे गुण अपने-आप हममें खिलना शुरू हो जाते हैं और गुणों के प्रति आदर से पुण्य भी बन्धता है।

603. दूसरों की निन्दा करने से उनके अवगुण हममें खिलना शुरू हो जाते हैं और हमें निन्दा का पाप भी लगता है। उससे अपना कोई भी फ़ायदा नहीं होता।

604. दूसरों के अवगुण देखकर अपने में झाँकना है, अगर हममें वे अवगुण हैं तो उन्हें निकाल देना है और उनके प्रति करूणा का भाव रखना है। इस तरह हमें दूसरे के अवगुण से भी अपना फ़ायदा उठाना है।

605. वैराग्य यानी बाहरी लगाव कम होना। सांसारिक आकांक्षाओं का कम होना। पर से सुख का भ्रम टूटना।

606. साधक की चारों कषायें क्रमशः मन्द होती हैं । पहले क्रोध की मन्दता होती है, फिर मान, फिर माया और अन्त में लोभ मन्द होता है।

607. धर्मोपदेश या फिर अन्य कोई भी उपदेश, सुननेवाले की भूमिका के अनुसार ही दिया जाता है। अन्यथा वह उसे ग्रहण नहीं कर पायेगा।

608. मन की वर्तमान परिस्थिति को भलीभाँति समझकर उसे पूरी सतर्कता के साथ सुधारने का प्रयास करना ही साधना है। साधना अनवरत चलती है — २४ x ७ x ३६५। सच्ची साधना साधक के जीवन के हर पहलू को प्रभावित करती है।

609. साधक संसार में रहकर भी संसार से परे रह सकता है, आसक्त नहीं रहता।

610. वैराग्य की परिपूर्णता मोक्ष में है। वैरागी संसार से कोई भी अपेक्षा नहीं रखता। वह सहज रूप से अपनी आत्मा में मस्त रहता है।

611. भले कोई करोड़ों लोगों से भी ज़्यादा भाग्यवान हो, यह ज़रूरी नहीं कि वह मोक्षमार्ग पर चलने की समझ रखता हो। इसलिये मोक्षमार्ग पर चलने का विवेक रखना भाग्यवान होने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

612. हमें अपनी सोच पर काम करना है क्योंकि वर्तमान में जैसी हमारी सोच है प्रायः वैसा ही अपना भविष्य बनता है।

613. हम दूसरों के बारे में बुरा सोचकर अपना ही नुक़सान करते हैं न कि दूसरों का। क्योंकि दूसरों का अच्छा-बुरा उनके कर्मों के अनुसार होता है न कि हमारी सोच के अनुसार।

614. हमें सदैव दूसरों के बारे में भला ही सोचना चाहिये, भले ही वे हमारे शत्रु ही क्यों न हों। क्योंकि दूसरों का अच्छा-बुरा उनके कर्मों के अनुसार होता है न कि हमारी सोच के अनुसार।

615. हमें सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) पाने के लिये सर्वप्रथम सभी जीवों के साथ भाव-मैत्री करनी चाहिये। वैसे भी, समाज में जिसे बड़ा बनना होता है उसे भी सभी से मैत्री का दिखावा करना पड़ता है। तब यह तो आत्मा को पाने की बात है। यहाँ तो सच्चे दिल से सभी जीवों के साथ भाव-मैत्री करनी ही पड़ेगी।

616. सच्चे दिल से सभी जीवों के साथ भाव-मैत्री करने से अपने द्वेष का शमन होता है। अपना मन शान्त होता है और शान्त मन से ही जीव अपने हित-अहित के बारे में सोच सकता है।

617. सच्चे दिल से सभी जीवों से भाव-मैत्री करने से अपने पापकर्मों का बन्ध कम हो जाता है और पुण्य का बन्ध होता है। इससे भविष्य में मोक्षमार्ग पर चलना सुविधाजनक और आसान हो जाता है।

618. अन्याय, अनीति तथा अविवेक हमें भविष्य में दुर्गति और अनन्त दुःख देने में सक्षम हैं। इसलिये इनसे सदैव बचना चाहिये और न्याय, नीति और विवेकपूर्ण जीवन जीना चाहिये।

619. जब हम रोष या द्वेष से किसी को दण्ड देने की सोचते हैं या दण्ड देते हैं, तब हम अपने लिये भविष्य में दुर्गति और अनन्त दुःख का ही आरक्षण कर लेते हैं।

620. जब हम रोष या द्वेष से किसी का अपमान करने की सोचते हैं या अपमान करते हैं तब हम अपने लिये भविष्य में दुर्गति और अनन्त दुःख का ही आरक्षण कर लेते हैं।

621. अज्ञानी व्यक्ति नियम से अपनी पर्याय को ही वेदता/अनुभवता है न कि द्रव्य को। ऐसे में जब वह सुनता या पढ़ता है कि "मैं शुद्धात्मा हूँ" या "मैं त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मा हूँ" या "मैं परमपारिणामिकभाव मात्र हूँ" इत्यादि, तब वह अज्ञानभाव/भ्रम से अपने द्रव्य रूप को वैसा न

मानकर अपने पर्याय रूप को ही वैसा मानने लगता है। इसलिये धर्म में पुरुषार्थहीन ही रहता है और संसार का ही पुरुषार्थ करता रहता है। इस तरह वह अपने संसार की ही वृद्धि करता है, अपने लिये अनन्त दुःखों का ही आरक्षण करता है।

622. "मैं राग-द्वेष रहित, बन्ध-मोक्ष रहित शुद्धात्मा हूँ" यह कथन शुद्ध नय की अपेक्षा से है। मगर कई लोग यह बात निर्पेक्ष भाव से एकान्तपूर्वक बोलते हैं और मानते भी हैं। उन्हें नयों का ज्ञान नहीं, वे अज्ञानी हैं। ज्ञानी जीव की दृष्टि में यह बात अवश्य होती है मगर उन्हें अपनी वर्तमान परिस्थिति का भी यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिये ही ज्ञानी जीव के अभिप्राय में सर्वविरति ही होती है और वह अपनी शक्ति के अनुसार व्रत-प्रत्याख्यान भी अवश्य लेता है।

623. अज्ञानी जीव अपने को शुद्धात्मा मानता हुआ धर्म में पुरुषार्थहीन ही रहता है। वह यह नहीं समझता कि खान से निकलनेवाले स्वर्ण (gold ore) में और शुद्ध स्वर्ण (pure gold) में अन्तर होने के बावजूद दोनों को स्वर्ण ही कहा जाता है, मगर शुद्ध स्वर्ण पाने के लिये खान से निकले स्वर्ण पर कुछ प्रक्रिया अवश्य करनी पड़ती है। उसी प्रक्रिया का नाम आत्मसाधना है।

624. अज्ञानी जीव अपने को शुद्धात्मा मानता हुआ धर्म में पुरुषार्थहीन ही रहता है। "करना यानी मरना" मानने लगता है। उसे यह पता नहीं कि "करना यानी मरना" यह बात "पर की कर्तृत्व बुद्धि" छुड़ाने के लिये है न कि स्व (आत्मा) की साधना छुड़ाने के लिये, वह तो मोक्ष पाने तक करनी ही है।

625. "मैं शुद्धात्मा हूँ" या "मैं त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मा हूँ" या "मैं परमपारिणामिक भावमात्र हूँ" इन सभी कथनों का भावार्थ अज्ञानी यों समझता है कि मुझमें राग-द्वेष हैं ही नहीं, मैं शुद्ध हूँ। क्योंकि अज्ञानी नियम से पर्याय को ही वेदता है, इसलिये अपनी वर्तमान पर्याय को ही ऐसा समझने लगता है।

626. "मैं शुद्धात्मा हूँ" या "मैं त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मा हूँ" या "मैं परमपारिणामिक भावमात्र हूँ" इन सभी कथनों का भावार्थ न समझकर अज्ञानी इसे एकान्त से लेकर (अपनी वर्तमान पर्याय को ऐसा समझकर) राग-द्वेष कम करने का पुरुषार्थ छोड़कर सांसारिक पुरुषार्थ में ज़ोरों से लगा रहता है।

627. "मैं शुद्धात्मा हूँ" या "मैं त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मा हूँ" या "मैं परमपारिणामिक भावमात्र हूँ" यह सभी कथन अपने द्रव्य के लिये हैं न कि अपनी पर्याय यानी वर्तमान अवस्था के लिये। अपना द्रव्य त्रिकाल ऐसा है यह कहकर आचार्य भगवन्त हमें उसका अनुभव करने की प्रेरणा देते हैं न कि अपनी वर्तमान पर्याय को ऐसा समझकर पुरुषार्थहीन बनने को।

628. "मैं शुद्धात्मा हूँ" या "मैं त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मा हूँ" या "मैं परमपारिणामिक भावमात्र हूँ" इन सभी कथनों से ज़्यादातर लोग एकान्त अर्थ ग्रहण करके (अपनी वर्तमान पर्याय को ही ऐसा समझकर) अपने को दूसरों से ऊँचा मानने लग जाते हैं और अपना अनन्त काल अन्धकारमय तथा दु:खमय बना लेते हैं।

629. "मैं शुद्धात्मा हूँ" या "मैं त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मा हूँ" या "मैं परमपारिणामिक भावमात्र हूँ" इन सभी कथनों से ज़्यादातर लोग एकान्त अर्थ ग्रहण करके (अपनी वर्तमान पर्याय को ही ऐसा समझकर) अपने को राग-द्वेष और उससे होनेवाले बन्ध से परे मानकर अपना अनन्त काल अन्धकारमय और दु:खमय बना लेते हैं।

630. "मैं शुद्धात्मा हूँ" या "मैं त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मा हूँ" या "मैं परमपारिणामिक भावमात्र हूँ" इन सभी कथनों से ज़्यादातर लोग एकान्त अर्थ ग्रहण करके (अपनी वर्तमान पर्याय को ऐसा समझकर) ऐसा बोलने/मानने लगते हैं कि मुझमें राग-द्वेष हैं ही नहीं। मैं परम अकर्ता हूँ। और वे लगे रहते हैं घोर सांसारिक कामों में। इस तरह वे अपना अनन्त काल अन्धकारमय और दु:खमय बना लेते हैं।

631. निश्चय को दृष्टि में और व्यवहार को कथन और आचरण में रखना चाहिये। मगर कई लोग इसके विपरीत करते देखे जाते हैं। वे निश्चय को सिर्फ़ कथन में रखकर आचरण में शून्य बनकर निश्चयाभासी बन जाते हैं और अपना अनन्त काल अन्धकारमय/दु:खमय बना लेते हैं।

632. मुझे अपनी पूर्णता का अहसास तब हो सकता है जब मुझे दृष्टि अपेक्षा से बाहर से कुछ भी नहीं चाहिये। अर्थात् तब मुझे अपनी आत्मा का अनुभव हो सकता है। तब मैं अन्तर्मुखी हो सकता हूँ।

633. जब तक मुझे दृष्टि अपेक्षा से बाहर से कुछ चाहिये तब तक मैं अपने आप को अधूरा ही अनुभव करूँगा। तब तक मैं विकल्पमुक्त यानी निर्विकल्प नहीं बन सकता।

634. यह सोचना कि यदि मैं सिर्फ़ साक्षीभाव से अपने विकल्प/विचार को देखता रहा (choiceless awareness) तो मुझे आत्मज्ञान हो जायेगा, ग़लत है। क्योंकि हम यह नहीं समझते कि जब तक देखने का भी विकल्प है तब तक आत्मज्ञान नहीं होता।

WWW.JAYESHSHETH.COM

635. जब तक मेरे अन्दर सांसारिक माँग/अपेक्षा विद्यमान है तब तक सिर्फ़ साक्षीभाव से अपने विकल्प/विचार को देखते रहने (choiceless awareness) से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होगा। मुझे अन्तर्दृष्टि तभी प्राप्त हो सकती है, जब मेरी कोई भी सांसारिक माँग/अपेक्षा न हो।

636. सच्चे देव-शास्त्र-गुरु-धर्म का आलम्बन शुभ में अटकने के लिये नहीं होता, वह तो शुद्धभाव पाने के लिये होता है। अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु-धर्म के आलम्बन से सिद्धत्व पाना है न कि संसार।

637. सच्चे देव-शास्त्र-गुरु-धर्म के आलम्बन से अगर हम मात्र शुभभाव ही पाते हैं तब शुद्धभावरूपी सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) और मोक्षमार्ग नहीं मिलते। सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) और मोक्षमार्ग नहीं मिलने से अपना संसार यानी दुःखमय जीवन बना रहेगा।

638. सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) यानी मोक्षमार्ग मिलने के बाद भी जब हम शुद्धभाव में नहीं रह पा रहे हैं तब नियम से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु-धर्म का आलम्बन लेकर शुभभाव में ही रहना है न कि अशुभभाव में।

639. लोग उपयोग (ज्ञान) को खाली करने के चक्कर में निर्विचार होने का प्रयास करते रहते हैं लेकिन जीवनभर आत्मानुभूति नहीं कर पाते। क्योंकि आत्मानुभूति के लिये उपयोग को पर से खाली करने का तरीक़ा यह है कि जब आपकी रुचि बाहर से हटकर अन्दर यानी स्व में होती है तब अपने आप उपयोग पर से खाली होकर स्व का अनुभव कर पाता है। आत्मानुभूति प्राप्त होती है।

640. आत्मानुभूति के लिये उपयोग (ज्ञान) को खाली करने का तरीक़ा हमने अपनी किताब "सम्यग्दर्शन की विधि" के प्रकरण २४ में बताया है। जब उपयोग पर से खाली होकर स्व का अनुभव कर पाता है तभी आत्मानुभूति प्राप्त होती है।

641. शास्त्रों में कहा है कि आबाल-गोपाल सभी को आत्मा अनुभव में आ ही रही है मगर अनादि-बन्ध की वजह से परद्रव्य के साथ एकात्मता होने से जीव अपना अनुभव नहीं कर पाता। इसलिये अपनी (आत्मा की) अनुभूति पाने के लिये पर से प्रीति कम करके स्व में रुचि जागृत करनी पड़ेगी तभी अपना उपयोग पर से हटकर स्व की अनुभूति करेगा।

643. अपनी (आत्मा की) अनुभूति पाने के लिये पर से प्रीति कम करना आवश्यक है। पर से प्रीति कैसे कम होगी इसका विवरण हमने अपनी किताब "सम्यग्दर्शन की विधि" के प्रकरण २४ में दिया है।

643. ज़्यादातर लोग धनी व्यक्ति को सर्वगुणसम्पन्न मानते हैं। बहुत-से धनी व्यक्ति भी स्वयं को सर्वगुणसम्पन्न मानते हैं। इससे पता चलता है कि बहुमत धन के पक्ष में ही होता है। हालाँकि धन आत्मप्राप्ति में बाधक नहीं है परन्तु धन का पक्ष अवश्य ही आत्मप्राप्ति में बाधक है। क्योंकि धन का पक्ष जीव को उसी के पीछे मन-वचन-काय से लगाता है। ऐसे व्यक्ति की रुचि भी धन के प्रति होती है न कि आत्मा के प्रति।

644. अनादि से जीव मिथ्यात्वी (अज्ञानी) होने से वह अपने आप को शरीर ही मानता है और आहार, मैथुन, परिग्रह (ज़्यादा से ज़्यादा धन, स्त्री, मकान, जवाहरात इत्यादि इकट्ठा करने का भाव) और भय में ही डूबा रहता है। शरीर से इनके भोग का भाव तीव्र रहता है, जिससे पाप का बन्ध होता है और वे ग़लत संस्कार भी दृढ़ होते रहते हैं जो उसे अनन्त काल तक इस दुःखमय संसार में भटकाने में सक्षम हैं। इसलिये इन सभी ग़लत संस्कारों को कमज़ोर करना भी एक साधना ही है।

645. सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) की प्राप्ति में पर के प्रति तीव्र भोक्ताभाव एक बड़ा अवरोध है। जीव उसे हर हाल में बनाये रखना चाहता है क्योंकि उसी से वह अपना अस्तित्व मानता है और उसी में अपनी ख़ुशी भी मानता है। उसे यह पता नहीं कि पर से प्राप्त ख़ुशी तो सुखाभास मात्र है, सच्चा सुख तो आत्मा में ही है।

646. जब किसी जीव को अपनी अच्छी सेहत के लिये भी कुछ खाने की चीज़ें छोड़ने को कहा जाता है तब वह जीव अनेक बहाने बनाकर कहता है कि मैं यह नहीं छोड़ सकता। जब वह जीव दिखनेवाले शरीर के हित के लिये भी कुछ चीज़ें खाना छोड़ नहीं सकता तब वह जीव नहीं दिखनेवाली आत्मा के हित के लिये भोगेच्छा कैसे छोड़ सकता है? नहीं छोड़ सकता, यही अपनी अनादि की कहानी है।

647. अनादि से अज्ञानी को भोक्ताभाव के दृढ़ संस्कार हैं। उन ग़लत संस्कारों को तोड़ने के लिये आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से बारह भावनाओं का चिन्तन-मनन करना चाहिये। भगवान के स्वरूप का चिन्तन-मनन करना चाहिये।

648. हमें सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) की प्राप्ति हेतु भोग नहीं अटकाते परन्तु भोगेच्छा अवश्य अटकाती है। इसलिये पहले भोगेच्छा छोड़ने का प्रयास करना चाहिये न कि भोग। क्योंकि भोग छोड़ना आसान है मगर भोगेच्छा छोड़ना कठिन है।

649. जब किसी जीव को यह आभास हो जाता है कि सच्चा सुख तो मेरी आत्मा में ही है, तब उसकी मृगतृष्णा जैसे भ्रामक सुख के पीछे की दौड़ रुक जाती है। वह दौड़ रुकने से भी उसे शान्ति का अनुभव होता है, मगर उसे आत्मज्ञान नहीं मान लेना चाहिये।

650. जब किसी जीव की मृगतृष्णा जैसे भ्रामक सुख के पीछे की दौड़ रुक जाये तो फिर उसे अपनी आत्मा के लक्षण अर्थात् ज्ञान-दर्शन से अपने को जोड़ना चाहिये। वह ऐसे कि मैं यह जाननेवाला मात्र हूँ। मैं ज्ञायक हूँ। इस तरह अपने सच्चे अस्तित्व का अनुभव करना चाहिये।

651. हमें अपनी पुरानी ग़लतियाँ याद रखनी हैं जिससे हम वापिस वही ग़लतियाँ न दोहराएँ। मगर दूसरों की पुरानी ग़लतियाँ याद नहीं रखनी हैं क्योंकि उससे हम उनके प्रति पूर्वाग्रहयुक्त बन जाते हैं जिससे हम उनके साथ मैत्रीभाव नहीं रख पायेंगे। अपनी ख़ुशी और आध्यात्मिक प्रगति के लिये सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव आवश्यक है।

652. हमें दूसरों की ग़लतियों से भी अपनी आत्मा का फ़ायदा कर लेना है। अगर वह ग़लतियाँ अपने में होंगी तो उन्हें दुरुस्त करना है और अगर वह ग़लतियाँ अपने में न हों तब हमें 'धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)' से अपने पुराने पापों के लिये माफ़ी माँगकर, भविष्य में हम ऐसी ग़लती कभी नहीं करेंगे यह तय करना है और ग़लती करनेवाले को अपने पुराने पापों की याद दिलानेवाला समझकर मन में धन्यवाद देना है। इस तरह अपनी आत्मा का फ़ायदा कर लेना है।

653. अगर हम ठीक से 'धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)' कर पाते हैं और मैत्रीभाव रख पाते हैं तब हमारी ख़ुशी बनी रहती है। यों 'धन्यवाद! स्वागतम्' करना अपनी ख़ुशी के लिये ढाल है और हमें नये पापबन्ध से बचाता भी है।

654. 'धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)' हमें यह सिखाता है कि निमित्त डाकिये का काम करता है, इसलिये निमित्त को दोष न देकर अपने कर्मों को (अपने ही पूर्वकृत दुष्कृत्यों को) दोष देना चाहिये। इससे अपनी ख़ुशी बनी रहती है और हम नये पापबन्ध से बच जाते हैं।

655. 'धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)' का पालन करने से हम क्रोध, रोष, घृणा और नये पापबन्ध से बच जाते हैं। पुराने पापों की निर्जरा हो जाती है और अपनी समता बनी रहती है।

656. मोहग्रसित जीव 'धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)' का पालन नहीं कर पाते और करना भी नहीं चाहते। क्योंकि उन्हें क्रोध, मान और घृणा का तीव्र उदय होता है। वे अपनी ग़लती या अपने पाप कर्मों को ज़िम्मेदार न मानकर सामनेवाले को ही पूर्णत: ज़िम्मेदार मानते हैं। इस तरह वे अपना वर्तमान और भविष्य, दोनों ही बिगाड़ लेते हैं। यही हमारी अनादि की कहानी है।

657. तीव्र क्रोध, मान, माया और लोभ मोहग्रसित जीव को अपनी आत्मा के लिये आवश्यक चार भावनाओं (मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ) और 'धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)' से सदैव दूर ही रखता है। मोहग्रसित जीव इन सबसे दूरी बनाकर ही रखता है, इन सबको अपने लिये व्यर्थ ही मानता है। यही हमारी अनादि की कहानी है।

658. कोई भी मत-पन्थ का हठाग्रह/दुराग्रह मोहग्रसित जीवों को ही होता है। यह हठाग्रह मोहग्रसित जीवों को अपनी आत्मा के लिये आवश्यक चार भावनाओं (मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ) और 'धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)' से सदैव दूर ही रखता है। क्योंकि किसी एक मत-पन्थ का आग्रह उन्हें सहज में ही अन्य मत-पन्थ का विरोधी बना देता है। यही हमारी अनादि की कहानी है।

659. जिसे किसी मत-पन्थ या व्यक्तिविशेष (गुरु) का विरोध है, तब वह अपनी आत्मा के लिये आवश्यक चार भावनाओं (मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ) और 'धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)' से सहज ही दूर हो जाता है क्योंकि जिसे किसी एक से भी विरोध या बैर है उसे अखण्ड मैत्री आदि भाव नहीं होते, इससे वह अपना वर्तमान और अनन्त भविष्य दु:खमय बना सकता है।

660. जिनका मोह मन्द हुआ हो उन्हें 'सच्चा वही मेरा' यह भाव सहित सत्य की खोज होती है। वे अपनी आत्मा के लिये आवश्यक चार भावनाओं (मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ) और 'धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)' का लाभ उठा सकते हैं। उन्हें इसका लाभ अवश्य उठाना चाहिये। ऐसे जीव ही आत्मज्ञान पाने के योग्य होते हैं।

WWW.JAYESHSHETH.COM

661. अनादि से जीव मिथ्यादृष्टि होता है। इसलिये वह नियम से चार तीव्र संज्ञाएँ (आहार, मैथुन, परिग्रह और भय) और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ से लिप्त होता है। यही हमारी अनादि की कहानी है।

662. वैसे हम दूसरों का जूठा ग्रहण नहीं करते मगर अनादि से मोह के नशे में चूर होकर अनन्त बार हमने और दूसरों ने भोगकर त्यागे हुए पुद्गल को ही बड़े चाव से बार-बार नया समझकर भोगा है। हमारी भोगने की शक्ति मर्यादित होने के बावजूद भोगेच्छा अनन्त है।

663. हम जो चीज़ें खाते—पीते हैं वे पुद्गलरूप ही होती हैं। उनमें से शरीर अपनी ज़रूरत की पूर्ति करके बाक़ी चीज़ें — मल, मूत्र, पसीना, इत्यादि को बाहर फेंक देता है। वह अशुचि भी पुद्गल ही है। वह अशुचि ज़मीन में मिल जाती है और पेड़—पौधे के रूप में हमें फल, फूल, अन्न, धान्य, इत्यादि देती है। गन्दे पानी का वाष्पीकरण होकर जब बादल बनता है और वह बादल बरसता है, तो वह पानी की पुद्गलरूपी बूँदों के द्वारा हमें प्राप्त होता है। उसी प्रकार हमने जिन पुद्गलों से शरीर बनाया है, वे भी हमने कई बार ग्रहण कर के छोड़े हैं। इस तरह हम बार—बार त्यागे हुए पुद्गल को नया समझकर भोग रहे हैं। मोहवश हमारे संसार का अन्त नहीं होता। इसलिये मोह के ऊपर काम करने योग्य है।

664. हम अनादि से इस स्वप्न जैसे संसार को ही परम सत्य मानकर जी रहे हैं। लेकिन हक़ीक़त यह है कि हम (आत्मा) इस संसार में जिस भी रूप (पर्याय) में रह रहे हैं वह नियम से बदलनेवाला है, वह क्षणिक ही होता है। इसलिये हमें परम सत्य के बारे में सोचकर उसी को पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

665. संसार को स्वप्न जैसा इसलिये कहा जाता है क्योंकि अनादि से जीव मोहवश पर में ही मैं और मेरापन करता आ रहा है। हम आत्मा होने के बावजूद भी अनादि से शरीर से ममत्व करके उसी भ्रमवश शरीर से जुड़े सभी संयोगों से अहं और मम (मेरा) करके जी रहे हैं। उसी भ्रम की वजह से हमने अनादि से अपनी सच्ची पहचान नहीं प्राप्त की है। उस भ्रम को ही स्वप्न जैसा कहा है। यही हमारी अनादि की कहानी है।

666. शरीर को हम मेरा कहते हैं; हाथ, पैर, आँख, नाक, कान, इत्यादि को हम अपना कहते हैं। यानी शरीर और सभी अंगों को हम "यह मेरा है" कहते हैं। तब यह सोचना चाहिये कि इन सभी को मेरा कहनेवाला कौन है? निश्चित ही वह इन सबसे भिन्न है। वह एकमात्र ज्ञायक (जाननेवाला) है,

उसी में अहं भाव करने योग्य है। वही अपनी सच्ची पहचान है। उसी का अनुभव करने योग्य है क्योंकि वही परम सत्य है।

667. अनादि से हम मोहवश (मिथ्यात्ववश) रति-अरति (पसन्द-नापसन्द) में फँसकर नये कर्म बान्ध रहे हैं। पर के अनुभव में रति-अरति होती है और स्व (आत्मा) के अनुभव में आनन्द होता है। इसलिये सभी को अपनी आत्मा के अनुभव के लिये ही साधना करनी चाहिये न कि अन्य किसी कारण से – जैसे कि देवभव पाने के लिये, महाविदेहक्षेत्र में जन्म लेने के लिये, इत्यादि।

668. अनादि से हमने सांसारिक कार्यों से अपने अहंकार को पाला-पोसा है। इसी संस्कार के वश होकर जब हम धर्म करते हैं तो उससे भी अपने अहंकार का ही पोषण करते हैं न कि उसका सच्चा फल पाने के लिये करते हैं। इसलिये धर्म सदैव आत्मप्राप्ति हेतु ही करना चाहिये न कि अहंकार बढ़ाने को।

669. जो जीव पर को अपना मानकर उसका अहंकार करता है, वह धर्म को भी अपने-पराये में बाँट देता है तथा धर्म और सम्प्रदाय का फ़र्क़ समझ नहीं पाता। सम्प्रदाय बदलने से आत्मा का जानने-देखने का धर्म नहीं बदल जाता।

670. जो जीव पर को अपना मानकर उसका अहंकार करता है, वह धर्मक्रिया करते हुए भी सत्य धर्म से वंचित ही रहता है। क्योंकि वह क्रियाओं से ही धर्म हुआ ऐसा मानता है न कि आत्मा के जानने-देखने के वास्तविक स्वभाव से। जब जीव अपने जानने-देखने के वास्तविक स्वभाव का अनुभव करता है तभी सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त करता है, न कि मात्र भावविहीन क्रियाओं से।

671. जो जीव पर को अपना मानकर उसका अहंकार करता है, वह पर का कर्ता बनता है। जब कि वह उपादान से मात्र स्व का ही कर्ता है न कि पर का, यह बात न समझ पाने से वह सत्य धर्म से वंचित ही रहता है। जब वह यह बात समझता है तभी वह पर के विकल्प से छूटकर स्व का निर्विकल्प अनुभव कर सकता है तथा सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त कर सकता है।

672. जो जीव पर को अपना मानकर पर के प्रति अहंकार करता है, वह दूसरों के सद्गुणों को पसन्द नहीं करता मगर उनके दुर्गुण अवश्य ढूँढता रहता है। जिसे सत्य धर्म में आगे बढ़ना है उसे इससे विपरीत दूसरों के सद्गुणों के प्रति प्रमोद करना है न कि ईर्ष्या या रोष, और दूसरों के दुर्गुण देखकर अपने भीतर झाँकना है कि यह दुर्गुण मुझमें तो नहीं है? अगर है तो उसे मिटाने की साधना करनी है।

673. जब कोई कहता है कि "वास्तव में आत्मा पर को नहीं जानती" तब वे आत्मा के स्व-पर को जानने-देखने के स्वभाव/लक्षण को गौण करके आत्मा के जानने-देखने के तरीक़े (mechanism) को मुख्य कर देते हैं। जिन्हें आत्मप्राप्ति करनी है वे आत्मा के जानने-देखने के लक्षण/स्वभाव को गौण करके आत्मप्राप्ति नहीं कर सकते। इसलिये आत्मप्राप्ति के लिये सदैव आत्मा के जानने-देखने के तरीक़े (mechanism) को गौण करके आत्मा के जानने-देखने के लक्षण/स्वभाव को मुख्य करना चाहिये।

674. आत्मा का जानने-देखने का तरीक़ा (mechanism) ऐसा है कि आत्मा पर को तो नहीं लेकिन अपने ही ज्ञान में प्रतिबिम्बित पर के प्रतिबिम्ब को जानती है। इसलिये जब लोग कहते हैं कि "वास्तव में आत्मा पर को नहीं जानती" तब वे जाने-अनजाने में आत्मा के मूल स्वभाव और लक्षण को गौण कर देते हैं। जिससे वे अपने ही अनन्त परिभ्रमण के कारण बन सकते हैं।

675. प्रश्न - जानना-देखना आत्मा का स्वभाव/लक्षण होने के बावजूद भी केवली का पर को जानना व्यवहार क्यों कहा गया है?

उत्तर - आत्मा स्व को अभेद से जानती है और पर को भेद (पर रूप) से जानती है, इसलिये पर को जानना व्यवहार कहा जाता है। क्योंकि अभेद को निश्चय और भेद को व्यवहार कहा जाता है। यहाँ व्यवहार यानी भेद समझना आवश्यक है न कि उपचार।

676. आत्मप्राप्ति के लिये हम आत्मा के जानने-देखने के लक्षण/स्वभाव का उपयोग कर सकते हैं। यह बात सभी को विदित है कि हम सब जानते-देखते हैं। यह बात छिपी हुई नहीं है मगर आत्मा छिपी हुई है। नियम यह है कि प्रकट से ही अप्रकट में जाया जाता है। व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है। स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है। इस अपेक्षा से पर के जानने-देखने का आत्मा का स्वभाव/लक्षण स्व (आत्मा) में जाने की सीढ़ी है।

677. पर को जानने-देखने के आत्मा के स्वभाव/लक्षण को हम स्व (आत्मा) में जाने की सीढ़ी की तरह उपयोग कर सकते हैं। जब किसी महल के झरोखे से आदमी बाहर देखता है, तो वह स्वयं ही ज्ञेयों (पर) को निहारता है, न कि झरोखा। उसी प्रकार आत्मा जब झरोखेरूपी आँखों से ज्ञेयों (पर) को निहारती है तब वह जानने-देखनेवाला (ज्ञायक) मैं स्वयं हूँ, न कि आँखें। इस प्रकार हम अपनी आत्मा से अहं भाव करके, यदि अन्य योग्यताएँ मौजूद हैं तो, आत्मानुभूति कर सकते हैं।

678. एक होड़ है, ख़ास तौर पर धनाढ्य वर्ग में, कि कौन कितना बड़ा धन का भण्डार अपने पीछे छोड़ जाता है। क्योंकि जीवनभर आराम से जीने के लिये, बल्कि आजीवन भोगविलास में जीने के लिये पर्याप्त मात्रा में धन होने के बावजूद जब कोई व्यक्ति अधिक से अधिक धनसंचय में पूरा ज़ोर लगा देता है, तो यह निश्चित है कि वह अपनी पूरी शक्ति से कमायी हुई दौलत का भण्डार अपने पीछे छोड़ जायेगा परन्तु उस भण्डार के कमाने में उसने जो भी पाप किये हैं, वे उसी के साथ उसके अगले जन्म में भी जायेंगे।

679. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में सरलता, सादगी, सहजता, सन्तोष, करुणा, मैत्री इत्यादि गुण खिलने लगते हैं।

680. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में धन के पीछे की दौड़ मन्द पड़ने लगती है। उसे समझ में आने लगता है कि धन पुण्य से मिलता है न कि उसके पीछे भागने से अथवा पूरे दिन उसी के बारे में सोचने से, या फिर केवल उसी के लिये ही पुरुषार्थ करने से। जिसे सत्य धर्म समझ में आने लगता है, वह अपना समय सत्य धर्म में आगे कैसे बढ़ा जाये इसी में लगाता है।

681. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में इन्द्रिय-विषयों के पीछे की दौड़ मन्द होने लगती है। उसे समझ में आने लगता है कि इन्द्रिय-विषयों के आकर्षणपूर्वक भोग आग में लकड़ी डालने का काम करते हैं, जिससे आग बुझने की बजाय और ज़ोर से धधकती है। इसी तरह जब जीव इन्द्रिय-विषयों के आकर्षणपूर्वक भोग भोगता है तो उसके संस्कार दृढ़ होते हैं, उसे बार-बार भोगने के भाव आते हैं।

682. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में क्रोध, मान, माया और लोभ मन्द होने लगते हैं। उसे समझ में आने लगता है कि इन कषायों का पक्ष रखने से अनन्त काल तक संसार में दु:ख भोगते हुए भटकना पड़ेगा।

683. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके मन-मस्तिष्क में पर के प्रति अहंकार और मद मन्द होने लगते हैं। उसे समझ में आने लगता है कि अहंकार और मद रखने से अनन्त काल तक संसार में दु:ख भोगते हुए भटकना पड़ेगा।

WWW.JAYESHSHETH.COM

684. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में बाहरी दिखावा कम होने लगता है। उसे समझ में आने लगता है कि बाहरी दिखावा रखने से मायाचारी का दोष लगता है, जिससे उसे अनन्त काल तक संसार में दु:ख भोगते हुए भटकना पड़ सकता है।

685. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में मत्सर और कलह मन्द होने लगते हैं । उसे समझ में आने लगता है कि मत्सर और कलह करने से अनन्त काल तक संसार में दु:ख भोगते हुए भटकना पड़ेगा।

686. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में खाने की गृद्धि मन्द होने लगती है। उसे समझ में आने लगता है कि खाने की गृद्धि से अनन्त काल तक संसार में दु:ख झेलते हुए भटकना पड़ेगा।

687. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में परनिन्दा का रस मन्द होने लगता है। उसे समझ में आने लगता है कि परनिन्दा का रस उसे अनन्त काल तक संसार में दु:ख झेलते हुए भटका सकता है।

688. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में दूसरों की पंचायत (gossip) करने में रस मन्द होने लगता है। उसे समझ में आने लगता है कि दूसरों की पंचायत (gossip) में रस लेने से उसे अनन्त काल तक संसार में दु:ख झेलते हुए भटकना पड़ सकता है।

689. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में नकारात्मक विचार कम होने लगते हैं। उसे समझ में आने लगता है कि नकारात्मक विचार उसे अनन्त काल तक संसार में दु:ख झेलते हुए भटका सकते हैं।

690. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में काम से जी चुराने की वृत्ति कम होने लगती है। उसे समझ में आने लगता है कि काम से जी चुराने की वृत्ति उसे अनन्त काल तक संसार में दु:ख झेलते हुए भटका सकती है।

691. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में दूसरों को छलने का भाव कम होने लगता है। उसे समझ में आने लगता है कि दूसरों को छलने से उसे अनन्त काल तक संसार में दु:ख झेलते हुए भटकना पड़ सकता है।

692. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में अनावश्यक हिंसा करने का भाव कम होने लगता है। उसे समझ में आने लगता है कि अनावश्यक हिंसा करने से उसे अनन्त काल तक संसार में दुःख झेलते हुए भटकना पड़ सकता है।

693. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में कर चोरी (tax evasion) करने के भाव कम होने लगते हैं। उसे समझ में आने लगता है कि कर चोरी करने से उसे अनन्त काल तक संसार में दुःख झेलते हुए भटकना पड़ सकता है।

694. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में झूठी गवाही देने के भाव कम होने लगते हैं। उसे समझ में आने लगता है कि झूठी गवाही देने से उसे अनन्त काल तक संसार में दुःख झेलते हुए भटकना पड़ सकता है।

695. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन से सिगरेट, बीड़ी, तमाखू, जुआ, दारू, नशा, अभक्ष्य-भक्षण इत्यादि ग़लत आदतें ग़ायब होने लगती हैं। उसे समझ में आने लगता है कि इन ग़लत आदतों से उसे अनन्त काल तक संसार में दुःख झेलते हुए भटकना पड़ सकता है।

696. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में किसी से विश्वासघात करने का भाव कम होने लगता है। उसे समझ में आने लगता है कि किसी से विश्वासघात करने पर उसे अनन्त काल तक संसार में दुःख झेलते हुए भटकना पड़ सकता है।

697. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में व्यभिचार का भाव कम होने लगता है। उसे समझ में आने लगता है कि व्यभिचार करने से उसे अनन्त काल तक संसार में दुःख झेलते हुए भटकना पड़ सकता है।

698. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में भगवान से कुछ माँगने का भाव (practising the law of attraction) कम होने लगता है। उसे समझ में आने लगता है कि भगवान से कुछ माँगना तो निदान शल्य है, उससे उसे अनन्त काल तक संसार में दुःख झेलते हुए भटकना पड़ सकता है।

WWW.JAYESHSHETH.COM

699. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में चुग़ली करने का भाव कम होने लगता है। उसे समझ में आने लगता है कि चुग़ली करने से उसे अनन्त काल तक संसार में दु:ख झेलते हुए भटकना पड़ सकता है।

700. जब किसी को सत्य धर्म समझ में आने लगता है तब नियम से उसके जीवन में क्रूरता कम होने लगती है। उसे समझ में आने लगता है कि दूसरों के साथ क्रूरता करने से उसे अनन्त काल तक संसार में दु:ख झेलते हुए भटकना पड़ सकता है।

701. कई लोग यह कहते और मानते हैं कि "भगवान और ज्ञानी सभी को द्रव्यदृष्टि से ही देखते हैं"। मगर उन्हें यह समझना आवश्यक है कि भगवान और ज्ञानी सभी को यथार्थदृष्टि से यथातथ्य (जैसा है वैसा) देखते हैं न कि केवल एक ही दृष्टि से। अर्थात् भगवान और ज्ञानी का ज्ञान प्रमाण होता है, वे जीव को प्रमाणदृष्टि से देखते हैं न कि एकमात्र द्रव्यदृष्टि से।

702. ज्ञानी शुद्धात्मा में अहं करते हैं मगर उनका ज्ञान मध्यस्थ होता है। वे स्व और पर को प्रमाणदृष्टि से देखते हुए उनके दोनों पहलुओं को जानते और मानते हैं न कि एकमात्र द्रव्यदृष्टि से देखकर मूढ़ बने रहते हैं। वे स्व को द्रव्यदृष्टि से भगवान जैसा मानने और अनुभव करने के बावजूद भी अपनी वर्तमान पर्याय की ओर आँख न मूँदकर उसे उन्नत करने के लिये अपनी शक्ति अनुसार साधना करते रहते हैं और दूसरों को भी यही उपदेश देते हैं।

703. कई लोग यह कहते और मानते हैं कि "भगवान और ज्ञानी सभी को द्रव्यदृष्टि से ही देखते हैं"। वे यह नहीं जानते कि भगवान और ज्ञानी सभी को प्रमाणदृष्टि से देखते हैं। ऐसे लोग इस तरह स्व-पर को भ्रमवश द्रव्यदृष्टि से ही देखते-मानते हैं। और स्व (आत्मा) के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता न समझते हुए संसार में ही पूरा पुरुषार्थ लगाते हैं।

704. अज्ञानी लोग धन की अधिक मात्रा इकट्ठा करके निश्चिन्त बनना चाहते हैं। वे अपने को एकमात्र पर्यायदृष्टि से ही देखते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि हर पर्याय में पूर्ण द्रव्य छिपा है, मात्र दृष्टि बदलने की आवश्यकता है। जीव एक बार पर्याय में छिपी शुद्धात्मा का अनुभव कर लेने के बाद अन्दर से निश्चिन्त हो जाता है और बाहर पर्याय में पूर्णता पाने का प्रयास करता रहता है। साथ में वह आवश्यक धनार्जन भी करता है मगर उससे अपना अस्तित्व जोड़े बग़ैर।

705. अज्ञानी जीव अनादि से अपनी ही पर्याय में पूर्णता पाना चाहता है मगर उस पर्याय में ही पूर्ण द्रव्य छिपा होने के बावजूद उसे यह नहीं पता होने से वह स्वयं को बाह्य पदार्थों से ही परिपूर्ण बनाने

WWW.JAYESHSHETH.COM

के लिये लगा रहता है। इसी से वह अनादि से दुःख झेलता आ रहा है। यही अपनी अनादि की कहानी है।

706. कई लोग पर्याय में निर्विचारता लाकर पूर्णता (निर्विकल्प अवस्था) पाना चाहते हैं मगर उन्हें यह नहीं पता कि पर्याय में निर्विचारता लाकर भी वे पर्याय का ही अनुभव कर रहे हैं न कि द्रव्य का जो स्वभाव से ही निर्विकल्प है। इसलिये पर्याय में निर्विचारता पाने का प्रयास न करके द्रव्य को पाने का प्रयास करना चाहिये जो सदा निर्विकल्प होता है।

707. विकल्प और विचार को गौण करके जो उन्हें जाननेवाला है (आत्मा) उससे अहं भाव करने पर अगर साधक में अन्य योग्यताएँ मौजूद हैं तो वह साधक नियम से उस जाननेवाले (आत्मा) को जान लेता है जो कि निर्विकल्प ही है। यह है निर्विकल्प अवस्था पाने की विधि, न कि सहज होनेवाले विचारों को रोककर ।

708. कई लोग मानते हैं कि पर को जानने से हमें राग-द्वेष होता है। वे लोग जाने-अनजाने अपने ग़लत संस्कार और कर्मोदय से होनेवाले राग-द्वेष का बोझ अपनी आत्मा के जानने-देखने के स्वभाव पर मढ़ देते हैं।

709. पर को जानते हुए उस में अहं (मैं) और मम (मेरा) करने में आता है वह अज्ञान का फल है। कई लोग सोचते हैं कि पर को जानने से बन्ध होता है मगर समझना यह है कि पर को जानने से नहीं, पर से अहं (मैं) और मम (मेरा) करने से बन्ध होता है।

710. पर को जानते हुए अपने अनादि के उलटे संस्कारवश पर से भले-बुरे का भाव होता है, पर से पसन्द-नापसन्द के भाव होते हैं, पर के प्रति प्रिय-अप्रिय के भाव होते हैं, ऐसे अनेक भावों से हम बन्धते हैं न कि मात्र पर को जानने से जो कि आत्मा का स्वभाव है।

711. पर को जानते समय जब जीव पर से एकत्व करता है तब संस्कारवश उस जीव को क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष इत्यादि होते हैं। एकान्त से यह मान लेना कि पर को जानना रोक देने से जीव इन सभी से बच जायेगा, यह समझ अधूरी है। हमें यह समझना चाहिये कि पर को जानना नहीं रोकना है परन्तु पर से एकत्व करना रोकना चाहिये।

712. कई लोग कहते हैं कि पर्यायदृष्टिवालों को सच्चा मिच्छामि दुक्कडं (उत्तम क्षमा) नहीं होता। उन्हें यह समझना आवश्यक है कि द्रव्यदृष्टि से तो सभी जीव एक समान होते हैं। इसलिये वहाँ कोई

अपराध ही नहीं होता क्योंकि अपराध पर्याय में होता है न कि द्रव्य में। वास्तव में सच्चा मिच्छामि दुक्कडं यथार्थदृष्टि यानी प्रमाणदृष्टिवाले को ही होता है क्योंकि उसे निरपराधी त्रिकाली द्रव्य और अपराधी पर्याय, ये दोनों ही पहलू ज्ञात होते हैं।

713. कोई ऐसा मानता हो कि अगर हमने यह मान लिया कि मैं तो शुद्धात्मा हूँ तो फिर हम कुछ भी करें हमें उससे कर्मबन्ध होगा ही नहीं। तब हमें यह समझ लेना आवश्यक है कि मैं शुद्धात्मा हूँ यह मान लेने से नहीं बल्कि अनुभूति कर लेने से कर्मबन्ध कम होता है। स्वात्मानुभूति होने के बाद अनन्तानुबन्धी चौकड़ी और कर्मों के राजा मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं होता, इस अपेक्षा से कर्मबन्ध कम हो जाता है या (अपेक्षा से) नहीं होता यह भी कहा जाता है।

714. कई लोग यथेच्छ खाते-पीते हैं, भोग भोगते हैं और राग-द्वेष भी करते हैं और समझते हैं कि अगर मैं शुद्धात्मा हूँ यह हमने जान लिया और मान लिया तो फिर हमें कर्मबन्ध नहीं होगा। उन्हें यह समझना आवश्यक है कि मात्र जान लेना और मान लेना पर्याप्त नहीं परन्तु स्वात्मानुभूति आवश्यक है। अगर बिना स्वात्मानुभूति के वे ऐसा करते हैं तब वे नियम से स्वयं को छल रहे हैं तथा अपना भविष्य दुःखमय और अन्धकारमय बना रहे हैं।

715. जब तक स्वात्मानुभूतिपूर्वक पर से भेदज्ञान नहीं होता तब तक जीव पर से अहं (मैं) करके पर से मम (मेरा) करके भ्रमवश पर से अभेद होकर इन्द्रियों के भोग भोगता है, उन्हें रच-पचकर भोगता है। वह अपना भविष्य दुःखमय और अन्धकारमय बना रहा है। यही अपनी अनादि की कहानी है।

716. जब किसी वस्तु का विवरण करते हुए उसके सभी पहलुओं का विवरण एक साथ करना सम्भव न हो या किसी एक पहलू को मुख्य और दूसरे को गौण करना हो तो स्याद्वाद की मदद ली जाती है। स्याद्वाद सम्यक् कथन पद्धति है। स्याद्वाद यानी अर्धसत्य या संशयवाद नहीं बल्कि स्याद्वाद को सत्य के एक पहलू-विशेष का विवरण समझना चाहिये।

717. जब किसी वस्तु के त्रैकालिक स्वरूप और बदलते स्वरूप का विवरण देना हो तो स्याद्वाद की मदद ली जाती है। आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव शुद्ध होने के बावजूद वह वर्तमान में राग-द्वेषयुक्त भी हो सकती है। इसलिये आत्मा के किसी भी पहलू का वर्णन करते समय उसे अर्धसत्य नहीं माना जा सकता। वह सत्य का एक पहलू ही है। वस्तु के अनेकान्त स्वरूप के वर्णन को ही स्याद्वाद कहा है अर्थात् स्याद्वाद यानी अर्धसत्य या संशयवाद नहीं बल्कि स्याद्वाद तो सत्य के एक पहलू का वर्णन होता है।

WWW.JAYESHSHETH.COM

718. वस्तु अनेकान्त स्वरूप होने से जब हम उसका वर्णन एक साथ नहीं कर पाते तब स्याद्वाद की मदद ली जाती है। जब हम पूर्ण सत्य का वर्णन करते हैं तब हम उसके एक-एक पहलू से परिचय कराते हुए आगे बढ़ते हैं तब इस स्याद्वाद की मदद ली जाती है। वस्तु के अनेकान्त स्वरूप के वर्णन को ही स्याद्वाद कहा गया है । अर्थात् स्याद्वाद यानी अर्धसत्य या संशयवाद नहीं बल्कि स्याद्वाद तो सत्य के एक पहलू का वर्णन होता है।

719. अनेकान्त का अर्थ सभी मत सही हैं ऐसा नहीं है। अनेकान्त को इस प्रकार समझना है कि कोई भी वस्तु का अलग-अलग अपेक्षा से विवरण करते वक़्त उसके अनेक पहलू (dimensions) होते हैं, अनेक धर्म होते हैं, उसे अनेकान्त का सिद्धान्त कहते हैं। जैसे सोना भारी भी है, पीला भी है, चिकना भी है। ये सभी उसके अनेक धर्म या पहलू हो सकते हैं। जैसे कोई पुरुष किसी का पुत्र भी है, किसी का भाई भी है, किसी का पति भी है, किसी का पिता भी है, किसी का मित्र भी है, किसी का गुरु भी है, किसी का शिष्य भी है। ये सभी धर्म एक ही पुरुष में हो सकते हैं। अन्य धर्मों (dimensions) का इनकार न करते हुए जब हम एक धर्म का कथन करते हैं तो उसे अनेकान्तवाद कहा जाता है। जब हम अन्य धर्मों के इनकारपूर्वक एक धर्म का ही कथन करें तब वह एकान्तवाद बन जाता है।

720. सभी जीवों में एकत्व स्थापित करना हो या अनेकत्व स्थापित करना हो तो स्याद्वाद की मदद ली जाती है। जैसे स्वभाव की अपेक्षा से सभी जीव एक समान होने से उसे एक जीवराशि कहने में आता है, वह उसका एकत्व हुआ। और अपने अपने अस्तित्व की अपेक्षा से वे भिन्न होने से वह उसका अनेकत्व हुआ। इस तरह से अपेक्षाकृत वर्णन को अर्धसत्य या संशयवाद नहीं परन्तु स्याद्वाद यानी सत्य का एक अपेक्षा से वर्णन कहा जाता है।

721. आत्मसाधना के लिये भगवान के सगुण (visible) स्वरूप का आलम्बन लेना चाहिये या निर्गुण (invisible) अर्थात् निरंजन स्वरूप का? मोटे तौर से भगवान के चार स्वरूप (निक्षेप) नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव हैं और उनके भी अनेक प्रभेद हैं। इसमें पहले तीन सगुण हैं और चौथा निर्गुण है। साधक जीव अपनी रुचि और आध्यात्मिक कक्षा (उन्नति) अनुसार इन चारों निक्षेपों में से कोई भी निक्षेप का आलम्बन ले सकता है।

722. जैसे प्राय: बालक को खिलौनों (symbolic representations) के द्वारा किसी वस्तु का परिचय कराया जाता है, वैसे ही साधक को प्रथम नाम या स्थापना या द्रव्य निक्षेप से भगवान

का परिचय कराया जाता है। जब वही साधक को साधना में उन्नत होना है तब उसे भगवान के भाव स्वरूप से भी परिचय कराते हैं। भगवान के भावस्वरूप का साधना में अत्यन्त महत्व है क्योंकि वही तो साधक को पाना है।

723. साधक को भगवान का आलम्बन लेकर स्व की ही अनुभूति करनी है। लोग सोचेंगे पर के आलम्बन से स्व का अनुभव कैसे हो सकता है? तब उत्तर है – जैसे हम आईने में देखकर अपने को ही सँवारते हैं न कि आईने को, उस तरह जैसी भगवान की अनुभूति है वैसी ही आंशिक अनुभूति हम उनके आलम्बन से पा सकते हैं। उसे ही आत्मज्ञान-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

724. जब साधक भगवान के साक्षात्कार (आत्मज्ञान-सम्यग्दर्शन) के लिये अपनी योग्यता बना लेता है तब उसको भगवान के भावनिक्षेप का आलम्बन लेकर अपने भगवत्-स्वरूप (शुद्धात्मा) का अनुभव करना चाहिये। अगर अपनी शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता तब नियम से यह समझना चाहिये कि या तो मेरी योग्यता में कमी है या फिर मुझे भगवान के भावनिक्षेप की ठीक से पहचान ही नहीं है।

725. आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) के लिये अपनी योग्यता बनाने के लिये सबसे पहले उसकी इच्छा जागृत होना आवश्यक है, उसे ही इच्छायोग कहते हैं। यह इच्छायोग तब मिलता है जब साधक को इस जगत के बाह्य सुख की असली पहचान हो जाय। क्योंकि जगत जिसे सुख मानता है वह वास्तव में सुखाभास ही है, सच्चा सुख आत्मा के भीतर है न कि बाहर।

726. इच्छायोग तब प्राप्त होता है जब साधक को यह पक्का यक़ीन (श्रद्धान) हो जाय कि जगत जिस सुख के पीछे भागता है वह सुखाभास ही है। क्योंकि तब उस साधक को सच्चे सुख की तलब लगेगी, तभी वह साधक सच्चे सुख की खोज के लिये भीतर झाँकने की इच्छा करेगा।

727. बिना इच्छायोग के की गई कोई भी साधना अपना सच्चा फल देने के लिये सक्षम नहीं होती। इसलिये सभी साधकों को सबसे पहले यह इच्छायोग प्राप्त करने के लिये ही पुरुषार्थ करना चाहिये।

728. अपने में घटित होते कोई भी कार्य में स्व को उपादान और पर को निमित्त कहा जाता है। निमित्त-उपादान की ऐसी व्यवस्था है कि जब कोई भी कार्य होता है तब वह कार्य नियम से उपादान में ही घटता है और उसका निश्चयकर्ता भी उपादान ही होता है मगर तब नियम से उस काल में निमित्त की उपस्थिति होती ही है। इसलिये व्यवहार से उस कार्य का कर्ता निमित्त को भी कहा जाता है।

729. निमित्त-उपादान की सच्ची व्यवस्था समझने वाला कभी भी उसका दुरुपयोग करके स्वछन्द नहीं बनता। उसे पता है कि जब आत्मा में विकार उत्पन्न होता है तभी नियम से वह कोई न कोई निमित्त कारण से ही होता है, अपने आप नहीं होता। इसलिये एकान्त से निमित्त को अकर्ता माननेवाला अपने साथ नियम से छल कर रहा है, जिससे वह अपना अनन्त काल दुःखमय बना लेता है। साधक को सदैव ऐसे निमित्त से दूर ही रहना चाहिये जिससे उसे पतन का ख़तरा हो।

730. साधक को निमित्त-उपादान की व्यवस्था कि निमित्त अकर्ता है या उसका व्यावहारिक पहलू कि निमित्त कर्ता है, इन दोनों में से किसी का भी एकान्त पक्ष न लेकर विवेकपूर्वक आत्महित में जब जो पहलू हितकारी होगा तब उसका प्रयोग करके अपना आत्महित साध लेना चाहिये।

731. पंचपरमेष्ठी और ज्ञान-दर्शन-चारित्र का आलम्बन भगवान का ही आलम्बन कहलाता है। क्योंकि पंचपरमेष्ठी में पहले दो अरिहंत और सिद्ध तो साक्षात् भगवान ही हैं और आचार्य, उपाध्याय, साधु भगवान स्वरूप का आंशिक अनुभव करते हुए भविष्य के भगवान हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र इन गुणों से ही भगवान बनने का मोक्षमार्ग विद्यमान है।

732. अरिहंत भगवान के आलम्बन के कारण ही हमें मोक्षमार्ग का स्वरूप जानने मिला है। उन्हीं के कारण हमें सिद्धों का स्वरूप, सिद्ध बनने का मार्ग, लोक, अलोक, जीव, पुद्गल, आकाशास्तिकाय, समय, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, नरक, निगोद, स्वर्ग, कर्म, आहारक शरीर, औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, पाँच लब्धि, आठ करण, केवलज्ञानादि, कालगणना, कालचक्र, इत्यादि का ज्ञान मिला है।

733. अरिहंत भगवान के कारण ही हमें सशरीरी बोलते हुए साक्षात् भगवान के दर्शन और उनके उपदेश का लाभ मिलता है। उनसे हमें प्रेरणा मिलती है कि क्या करने योग्य है। वे अपनी साधना साझा करके अपने लिये अनन्त सुख का मार्ग प्रशस्त करते हैं । उनके आलम्बन से हम भी उनके जैसे बन सकते हैं यह विश्वास आता है।

734. जो सिद्ध भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, वह साधक भगवान जैसे ही अपने द्रव्य-गुण का चिन्तन करते हुए पर्याय से उसमें अभेद होकर सिद्धसदृश आंशिक अनुभूति करता है तब अपने हृदय में भगवान विराजमान हुए, सिद्धों को हृदय में विराजमान किया ऐसा कहने में आता है। उसे ही आत्मज्ञान-सम्यग्दर्शन कहते हैं, यही सिद्धों के आलम्बन की विधि और फल है।

735. आचार्य, उपाध्याय, साधु के उपदेश से साधक को आत्मप्राप्ति के लिये मार्गदर्शन मिलता है और उनके जीवन से साधक प्रेरणा भी पाता है। आचार्य, उपाध्याय, साधु भगवान के स्वरूप का आंशिक अनुभव करते हुए भविष्य के भगवान हैं, इसलिये उनका आलम्बन भगवान का ही आलम्बन कहलाता है। उनका आलम्बन लेकर हमें भी उनके मार्ग पर चलना चाहिये!

736. जब किसी साधक को आत्मानुभूति होती है तब वह परिणति अपने ज्ञान और दर्शन गुण की ही परिणति होती है। और आगे जब वह साधक उस स्वात्मानुभूति में स्थिर होने का प्रयास करता है तो उसे चारित्र गुण की परिणति कहते हैं। इस तरह ज्ञान-दर्शन-चारित्र इन गुणों से ही भगवान बनने का मोक्षमार्ग विद्यमान है। इसलिये उनका आलम्बन भगवान का ही आलम्बन कहलाता है।

737. हम सभी को यह पता है कि जब किसी की मृत्यु होती है, तब उसके साथ कुछ भी नहीं जाता, मात्र उस जीव के कर्म उसके साथ जाते हैं। फिर भी मोहवश हम अनादि से परिग्रह जुटाने के ही संस्कार पाले हुए हैं। आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) पाने के लिये सभी को उस परिग्रह के संस्कार को मन्द करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

738. परिग्रह के संस्कार को मन्द करने हेतु सभी को बारह भावना का चिन्तन करना चाहिये। और अभ्यास हेतु अपनी आवश्यकतानुसार परिग्रह-परिमाण भी करना चाहिये, जिससे एक सीमा के उपरान्त परिग्रह जुटाने के भाव को सीमित किया जा सके।

739. आवश्यकता से अधिक परिग्रह जुटाने के भाव से उसे अर्जित करने में और अगर मिल गया तो उसके प्रबन्धन में ही अपना अधिक समय बीत जाता है, जिससे हम अनादि से आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) पाने के लिये पुरुषार्थ बहुत ही कम या बिलकुल नहीं कर पाते हैं। इस चक्कर से सिर्फ़ वही जीव छूट पाता है, जिसे यह पता है कि अपने इस मनुष्य पर्याय का एक समय भी कितना क़ीमती है।

740. जब कोई भी जीव सम्यक् शास्त्राभ्यास करता है तब उस जीव को पता चलता है और उस बात पर यक़ीन भी आता है कि परिग्रह पुण्यानुसार ही मिलता है न कि श्रमानुसार। तब उस जीव का अधिक पुरुषार्थ आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) पाने के लिये होता है और बहुत ही कम पुरुषार्थ धनादि परिग्रह जुटाने में लगता है। यही सभी का कर्तव्य है।

741. योग्य पुरुषार्थ करने पर हमें अपने पुण्यानुसार जो भी धनादि परिग्रह प्राप्त होता है उसमें हमें सन्तोष मानना चाहिये। क्योंकि जो भी जीव असन्तोष रखता है वह उस असन्तोष से वर्तमान में

दु:खी होता है और आर्तध्यान का पापबन्ध करके अपना भविष्य भी दु:खमय बना लेता है। यह कैसी समझदारी है? अर्थात् सरासर बेवक़ूफ़ी ही है, इससे सभी को बचना चाहिये।

742. किसी को अथक पुरुषार्थ करके भी धनादि परिग्रह की प्राप्ति नहीं होती या कम होती है तब उसे मायूस न होकर सत्य धर्म-पुरुषार्थ बढ़ाना चाहिये, जिससे वह अपनी आत्मा के कल्याण के साथ-साथ धनादि परिग्रह भी सहज में अर्जित कर पायेगा। क्योंकि सत्य धर्म-पुरुषार्थ बढ़ाने से उसके सत्ता में रहे पापकर्म की शक्ति कम होती है और पुण्यकर्म की शक्ति में इज़ाफ़ा होता है।

743. जब तक कोई भी जीव परिग्रहादि पर से ख़ुद को सुखी मानता है, तब तक उसकी परिग्रहादि के पीछे की दौड़ नहीं रुकती। भले ही परिग्रहादि परवस्तु का संयोग-वियोग पुण्य-पाप के अधीन है मगर कई बार परिग्रहादि परवस्तु का संयोग-वियोग मेहनत या चापलूसी से होते देख उसे तो यही भ्रम हो जाता है कि जितना ज़्यादा मैं इनके पीछे समय दूँगा उतने ज़्यादा वे मुझे प्राप्त होंगे। यही अपनी अनादि की कहानी है।

744. सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के योग से किसी विरले को ही यह बात समझ में आती है कि हमें अपने पुण्यानुसार ही धनादि परिग्रह की प्राप्ति होती है। क्योंकि यह सभी बातें हमने अनादि से अनन्त बार पढ़ी होंगी, सुनी होंगी पर उनपर विश्वास हो जाना, उनकी श्रद्धा होना इस काल में बहुत ही कठिन है।

745. पुण्यानुसार मिले धनादि परिग्रह रखने में या बढ़ाने में कोई दिक़्क़त नहीं है मगर जब अपना मन उनमें लगकर आत्महित खो बैठे तब बहुत बड़ी दिक़्क़त है। क्योंकि हमें इस जन्म में जल्द से जल्द अपना आत्महित साध लेना है जो कि अपने हाथ में (कारण) है न कि धनादि परिग्रह बढ़ाना है जो कि पुण्य के हाथ में (कारण) है।

746. धनादि परिग्रह में गृद्धि आत्महित में अवश्य बाधा रूप है न कि पुण्य के कारण मिला धनादि परिग्रह। इसलिये सभी को धनादि परिग्रह में गृद्धि को घटाने का तथा हटाने का प्रयास करना चाहिये।

747. जब हम परिग्रह बढ़ाने के लिये धर्म करते हैं तब हम जाने-अनजाने अपना संसार ही बढ़ाते हैं और अपना भविष्य भी दु:खमय बनाते हैं। इसलिये धर्म एकमात्र संसार से मुक्ति के लिये ही करना चाहिये न कि संसार बढ़ाने के लिये।

748. जब तक हमारी परिग्रह-संज्ञा तीव्र है तब तक हमारा संसार में भटकना तय है, हमारा भविष्य दुःखमय है। यह बात कभी भी भूलने जैसी नहीं है।

749. किसी के पास परिग्रह कम हो या ज़्यादा हो, उससे उस जीव का कर्मबन्धन तय नहीं होता मगर उस जीव की परिग्रह-संज्ञा कितनी तीव्र है इससे उस जीव का कर्मबन्धन तय होता है।

750. तीव्र परिग्रह-संज्ञा हमें अनादि से संसाररूपी सागर में डुबोये हुए है। उससे हम अनादि से अनन्त दुःख झेलते हुए भटक रहे हैं। यह सिलसिला कब तक जारी रखना है? सभी को स्वयं पर दया करके इस बात पर विचार करना है क्योंकि यह सोचने के लिये मनुष्यभव स्वर्ण अवसर है।

751. अगर अपना एक मनुष्यभव-रूपी स्वर्ण अवसर आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ किये बिना व्यर्थ गया तब हम अनन्त काल के लिये दुःख झेलते हुए इस संसार में भटक सकते हैं।

752. आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) के लिये सच्चा पुरुषार्थ यानी अपने अस्तित्व के बारे में सत्य की खोज, अपने अस्तित्व का अनुभव।

753. अपने अस्तित्व के अनुभव से अर्थात् आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) से हमें अपना सच्चा हित-अहित समझ में आता है। इससे अपना भविष्य उज्ज्वल बनना तय हो जाता है।

754. हम दूसरों की देखा-देखी धार्मिक पुस्तकें/शास्त्र तो बसा लेते हैं लेकिन उससे अपना आत्मकल्याण तय नहीं होता। हम शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन, पठन-पाठन कितना करते हैं उससे हमारा आत्मकल्याण तय होता है। इसलिये हमें शास्त्रों का आत्मलक्षी अध्ययन तथा पठन-पाठन करना चाहिये।

755. हम समझते हैं ज्ञान शास्त्रों में होता है मगर एक ही शास्त्र से कोई आत्मज्ञान पाकर अपना कल्याण कर लेता है जबकि उसी शास्त्र से दूसरे लोग उल्टा अर्थ निकालकर संसार बाँधते (संसार बढ़ाते) भी देखे जाते हैं। इससे तय होता है कि ज्ञान शास्त्रों में नहीं परन्तु ज्ञान शास्त्रों की सम्यक् समझ में होता है।

756. धन इत्यादि परिग्रह जीव को अहंकारी बना सकता है, वह अहंकार उस जीव को अनन्त काल तक संसार में भटका सकता है, उसका भविष्य अन्धकारमय और दुःखमय बना सकता है। इसलिये सभी को अहंकार से बचना चाहिये, उससे दूर ही रहना चाहिये।

757. पद, प्रतिष्ठा, अधिकार, प्रतिभा, ताक़त, सामर्थ्य, इत्यादि जीव को अहंकारी बना सकते हैं क्योंकि लोग इन्हें शाश्वत टिकनेवाला मान लेते हैं। अहंकार उस जीव को अनन्त काल तक संसार में भटका सकता है, उसका भविष्य अन्धकारमय और दु:खमय बना सकता है। इसलिये सभी को अहंकार से बचना चाहिये, उससे दूर ही रहना चाहिये।

758. धन, पद, प्रतिष्ठा, अधिकार, प्रतिभा, ताक़त, सामर्थ्य, इत्यादि अपने पूर्वकृत पुण्य का फल हैं यानी अपने भूतकाल के धर्मकार्यों का फल हैं, भगवान की आज्ञा पालने का फल हैं। इसलिये उन पर अहंकार न करते हुए भगवान की आज्ञा में रहने का प्रयास करना चाहिये।

759. अहंकार से बचने के लिये सभी को भगवान की आज्ञा में रहने का प्रयास करना चाहिये और उसमें दृढ़ता पाने के लिये अपने अनादि निवासस्थान यानी निगोद को कभी भी भूलना नहीं चाहिये। साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि अगर अभी मैं भगवान की आज्ञा में न रहकर अहंकार करता हूँ तो मेरा भविष्य भी निगोद बन सकता है।

760. अनादि से हम निगोद में थे और अगर हम इस जन्म में आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) के लिये पुरुषार्थ नहीं करते तो अपना भविष्य भी निगोद बन सकता है। फिर हम अहंकार किस बात का कर रहे हैं? उस काल के सामने हमारे इस जन्म की आयु अति-अति अल्प है, फिर किस बात का अहंकार करें?

761. अहंकारी व्यक्ति का अन्त बहुत बुरा होता है और 'जिसका अन्त बुरा उसका सब बुरा' यह कहावत कभी भूलने योग्य नहीं है। इसलिये सभी जीवों को किसी भी बात का अहंकार करने योग्य नहीं है।

762. जिसने भी आत्मप्राप्ति की योग्यता प्राप्त करके आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) प्राप्त कर लिया और वह उसे साथ लेकर अगले भव में गया अर्थात् समाधिमरण प्राप्त किया उसके लिये यह कह सकते हैं कि उसने 'जिसका अन्त भला उसका सब भला' इस कहावत को यथार्थ किया। इसलिये सभी जीवों का यही कर्तव्य है।

763. हमें हर काम करते समय यह सूत्र - 'जिसका अन्त भला उसका सब भला, जिसका अन्त बुरा उसका सब बुरा' याद रखना चाहिये जिससे कि हम वे काम करेंगे ही नहीं या करेंगे तो भी भीरू भाव से करेंगे, जिनकी वजह से हमारा अन्त बिगड़ सकता है।

764. इस बहुमूल्य मनुष्य जीवन का अन्त अगर बुरा होता है तो हमारा अनन्तानन्त काल दुःखमय, अन्धकारमय, अनन्त पीड़ादायक हो सकता है। इससे पता चलता है कि इस जन्म में हमें कितना चौकन्ना-सजग रहने की आवश्यकता है।

765. लोग कहते हैं कि हम तो यहाँ (इस मनुष्य भव में) मज़ा करने के लिये ही पैदा हुए हैं, फिर भी आप 'जिसका अन्त बुरा उसका सब बुरा' कहकर हमारा मज़ा ख़राब कर रहे हैं। ऐसे लोगों को हम कहते हैं कि हम तो आपको समय रहते जगा रहे हैं क्योंकि एक बार यह मौक़ा हाथ से निकल गया तो पछतावे के अलावा कुछ नहीं बचेगा। यही अपनी अनादि की कहानी है।

766. कई लोगों को नरक, स्वर्ग, मोक्ष, इत्यादि मनुष्य को डराने के लिये या ललचाने के लिये बनायी गयीं काल्पनिक बातें लगती हैं। ऐसे लोगों को शायद 'जिसका अन्त भला उसका सब भला, जिसका अन्त बुरा उसका सब बुरा' यह बात समझ में नहीं आयेगी। परन्तु उन्हें यह तो सोचना चाहिये कि इस मनुष्य भव में भी हम लोगों को सुखी-दुःखी देखते हैं, कम-से-कम उस बात पर ग़ौर करके अपने हर काम में चौकन्ना-सजग रहना चाहिये।

767. कई लोग कहते हैं कि हम यहाँ अपने शरीर के कारण कई सुखों का भोग कर सकते हैं, जबकि मोक्ष में तो शरीर का ही अभाव है तो फिर हम मोक्ष में सुखों का अनुभव कैसे कर सकते हैं? ऐसे लोगों को यह पता होना चाहिये कि एक से बढ़कर एक शारीरिक सुख भोगने के लिये शरीर भी एक से बढ़कर एक होना चाहिये। जैसे कि हम मनुष्य जन्म में जो सुख भोगते है उनसे कई गुना अधिक सुख वैक्रियक शरीर से देव भव में भोग सकते हैं। देव भव में भी देवता ऊपर-ऊपर के देवलोक में नीचे के देवलोक से अधिक-अधिक सुख भोगते हैं। और सम्यग्दर्शन-धारी साधु एक वर्ष की दीक्षा पर्याय के बाद सम्यग्चारित्र (आत्मा की बारम्बार अनुभूति) की वजह से उन देवताओं से भी अधिक सुख भोगते हैं। इससे पता चलता है कि सुख आत्मा में है न कि शरीर में, शरीर तो हमारे (आत्मा के) लिये बन्धन है और मोक्ष में उस बन्धन का ही विच्छेद हो जाने से सादि अनन्त काल के लिये अनन्त सुख मिलता है।

768. मोक्ष सुख को समझने के लिये ऐसा भी उदाहरण ले सकते हैं कि कई लोग पैसे के लिये व्यवसाय, धन्धा या दूसरों की सेवा-चाकरी करते देखे जाते हैं। इस तरह वे लोग कड़ी मेहनत करके पैसे कमाकर संसार के सुख भोगते दिखते हैं। अगर उनसे कहा जाय कि आपको कुछ भी करने की ज़रूरत नहीं, रोज़ आपके पास टकसाल से जितना चाहेंगे उतना पैसा आ जायेगा, तब वे बहुत ख़ुश

हो जायेंगे और संसार के सुखों में मग्न रहेंगे। उसी प्रकार अभी हमें थोड़े से सुख के लिये बहुत मेहनत करनी पड़ती है, जबकि मोक्ष में बिना कोई मेहनत किये हर पल अनन्त सुख मिलता है। मोक्ष अनन्त सुख की खान है, टकसाल है।

769. साधक को आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) हेतु और पापबन्ध से बचने हेतु भी शील रक्षा (ब्रह्मचर्य) का महत्व समझना आवश्यक है। गृहस्थों को भी परस्त्रीगमन/परपुरुषगमन, वेश्यागमन, इत्यादि से बचना आवश्यक है।

770. शील रक्षा (ब्रह्मचर्य) का आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) हेतु बहुत ही महत्व है क्योंकि अनादि से हमारे ऊपर मैथुन संज्ञा हावी है। इसलिये, इस संज्ञा के पाश (फन्दे) से छुटकारा पाने के लिये इस जन्म में प्रयास करना आवश्यक है।

771. अनादि से हमने अपने अनन्त जीवन काल मैथुन संज्ञा के पीछे की दौड़ में खपाये हैं, अनन्त दु:ख झेले हैं। अब कब तक इस तरह बर्बाद होना है? कब तक हमें अपना भविष्य दु:खमय बनाते रहना है? ज़रा ठहरिये और सोचिये, उसी में अपना कल्याण छिपा है।

772. जितना हम इस जीवन में मैथुन संज्ञा में सुख मानकर उसके पीछे भागेंगे, उसी के बारे में सोचेंगे, दिन-रात उसी के लिये झुलसते रहेंगे उतना ही अपना अनन्त काल तक नपुंसक बने रहना तय होते जाता है। यही हमारी अनादि की कहानी है। अब कब तक यह जारी रखना है? ज़रा ठहरिये और सोचिये, उसी में अपना कल्याण छिपा है।

773. मैथुन संज्ञा से छूटना इसलिये आवश्यक है क्योंकि जब तक हमें सुख (सुखाभास) बाहर दिखेगा तब तक हमारी दौड़ बाहर की ओर ही होगी, और हम तब तक आत्मा की सुध भी नहीं लेंगे। जब हमें पता चलेगा कि बाहर में जो सुख दिखता है वह सुख नहीं सुखाभास (मृगतृष्णा) है, तब हम सच्चे सुख के लिये आत्मा की सुध लेंगे, उस सच्चे सुख की खोज के लिये आत्मधर्म की ओर मुड़ेंगे।

774. मैथुन संज्ञा से छूटने के लिये शारीरिक ब्रह्मचर्य पालन जितना आवश्यक नहीं है उतना आवश्यक अपने मन को पहले उससे मुक्त कराना है। क्योंकि जब एक बार अशुचि आदि भावना के मनन-चिन्तन से, मैथुन से सुखबुद्धि हट जाय तब वह संज्ञा अपने आप कमज़ोर पड़ जाती है और कालक्रम से चली भी जाती है।

775. ब्रह्मचर्य में मन-वचन-काया और करना-कराना-अनुमोदना, इन सभी से ही बचना आवश्यक है। दूसरे, ब्रह्म (आत्मा) में लीनता (रमण) को अन्तरंग ब्रह्मचर्य समझना चाहिये। मोक्षमार्ग में दोनों का ही महत्व है, मगर जब तक हम दूसरे प्रकार का ब्रह्मचर्य न पा लें तब तक मोक्षमार्ग शुरू नहीं होता।

776. साधक/साधु को पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य पालना चाहिये और गृहस्थों को अपनी पत्नी या पति से ही सन्तोष मानना चाहिये। मगर मोक्षमार्ग में प्रवेश हेतु दोनों को ही आत्मानुभूति वाला ब्रह्मचर्य प्राप्त करना आवश्यक है, क्योंकि बिना उसके मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं मिलता।

777. साधक/साधु को ब्रह्मचर्य की रक्षा हेतु विजातीय पात्र के परिचय से बचना चाहिये और अगर मिलना भी पड़े तो अकेले में नहीं मिलना चाहिये। गृहस्थों को भी अपनी पत्नी या पति के अलावा दूसरे विजातीय पात्रों से अकेले में नहीं मिलना चाहिये।

778. भगवान ने ब्रह्मचर्य की रक्षा हेतु यह बताया है कि हम जब भी विजातीय पात्र की ओर देखें तब उसे टकटकी लगाकर न देखें। जिस प्रकार हम मध्याह्न के सूर्य को देखकर तुरन्त ही अपनी नज़र उस पर से हटा लेते हैं उसी प्रकार विजातिय पात्र से भी अपनी नज़र तुरन्त ही हटा लें।

779. लोग दादागिरी, धमकी, मारपीट और आतंक से दहशत फैलाते हैं। उन्हें यह नहीं पता कि इससे उन्हें अनन्त काल के लिये भय और आतंक के साये में जीना पड़ सकता है। इन सभी कामों से भय संज्ञा तीव्र बनती है, पापबन्ध होता है। उससे वह जीव अनन्त काल के लिये भयभीत रह सकता है। यही अपनी अनादि की कहानी है।

780. अनादि से हमने अपने अनन्त जीवन भय संज्ञा के साये में बिताये है, अनन्त दुःख झेले हैं। अब कब तक हमें इस तरह भय के साये में जीना है? कब तक हमें अपना भविष्य दुःखमय बनाते रहना है? ज़रा ठहरिये और सोचिये, उसी में अपना कल्याण छिपा है।

781. जितना हम इस जीवन में लोगों को भयभीत करेंगे या अपने अधिकारों और सत्ता का दुरुपयोग करके उन्हें डराकर रखेंगे उतना ही हमारा अनन्त काल तक भयभीत बने रहना तय होता जाता है। यही अपनी अनादि की कहानी है। अब इसे कब तक जारी रखना है? ज़रा ठहरिये और सोचिये, उसी में अपना कल्याण छिपा है।

WWW.JAYESHSHETH.COM

782. अगर इस जीवन में लोगों को भयभीत या अपने अधिकारों और सत्ता का दुरुपयोग करके उन्हें डराकर हमें अनन्त काल तक भयभीत नहीं बने रहना है, तो हमें लोगों के साथ चार भावनाओं के अनुकूल अपना जीवन जीना होगा। हमें लोगों के प्रति मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावना रखनी चाहिये क्योंकि उसी में अपना कल्याण छिपा है।

783. भय संज्ञा को मन्द करने के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि हम सभी जीवों को अपने समान आत्मा देखें। उसके लिये पहले ख़ुद को आत्मा समझना और स्वात्मा की अनुभूति करना आवश्यक है। जब तक हम स्वयं को आत्मा नहीं मानते तब तक हम दूसरों को भी आत्मा कैसे मान सकते हैं? नहीं मान सकते।

784. भय संज्ञा को मन्द करने हेतु हमें अपने आत्मरूपी अस्तित्व का एहसास करना होगा। और उसके लिये हमें बारह भावनाओं को समझकर उनका चिन्तन करना आवश्यक है, जिससे कि हमारे मन का भय मन्द हो, हम आत्मा हैं यह भाव दृढ़ हो और हम अमर हैं यह एहसास हो।

785. साधक को आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) हेतु और पापबन्ध से बचने हेतु भी अभक्ष्य भक्षण के त्याग का महत्व समझना आवश्यक है। अभक्ष्य भक्षण यानी मांस, दारु, कन्दमूल, रात्रिभोजन, अचार, मधु, अंजीर, मक्खन, इत्यादि का भक्षण।

786. अभक्ष्य भक्षण के त्याग का आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) हेतु बहुत ही महत्व है क्योंकि अनादि से हमारे ऊपर तीव्र आहार संज्ञा ही हावी है। इसलिये इस संज्ञा के पाश (फन्दे) से छूटने के लिये इस जन्म में प्रयास करना आवश्यक है।

787. अनादि से हमने अपने अनन्त जीवन तीव्र आहार संज्ञा/अभक्ष्य भक्षण के पीछे की दौड़ में खपाये हैं, अनन्त दु:ख झेले हैं। अब कब तक इस तरह बर्बाद होना है? कब तक हमें अपना भविष्य दु:खमय बनाते रहना है? ज़रा ठहरिये और सोचिये, इसी में अपना कल्याण छिपा है।

788. जितना हम इस जीवन में अभक्ष्य भक्षण में सुख मानकर उसके पीछे भागेंगे, उसी के बारे में सोचेंगे और दिन-रात उसी के लिये जियेंगे, उतना अपना अनन्त काल तक दु:खी होना तय होता जाता है। यही हमारी अनादि की कहानी है। अब इसे कब तक जारी रखना है? ज़रा ठहरिये और सोचिये, इसी में अपना कल्याण छिपा है।

789. आहार लिये बिना जीवन जीना सम्भव नहीं है, परन्तु हम अभक्ष्य भक्षण का त्याग अवश्य कर सकते हैं। इससे हमारे जीवन में पापबन्ध कम होगा और हमारी तीव्र आहार संज्ञा भी मन्द होगी।

790. तीव्र आहार संज्ञा से छूटना इसलिये आवश्यक है क्योंकि जब तक हमें सुख (सुखाभास) बाहर दिखेगा तब तक हमारी दौड़ बाहर की ओर ही होगी, और हम आत्मा की सुध भी न लेंगे। जब हमें पता चलेगा कि बाहर में जो सुख दिखता है वह सुख नहीं सुखाभास है, तब जाकर हम सच्चे सुख के लिये आत्मा की सुध लेंगे, उस सच्चे सुख की खोज के लिये आत्मधर्म की और मुड़ेंगे।

791. तीव्र आहार संज्ञा से छूटने के लिये जितना अभक्ष्य भक्षण का त्याग आवश्यक है उतना ही अपने मन को उससे मूक्त करना भी आवश्यक है। क्योंकि जब एक बार अनित्य आदि भावना के मनन-चिन्तन से अभक्ष्य भक्षण से सुखबुद्धि हट जाय तब वह संज्ञा अपने आप कमज़ोर पड़ जाती है।

792. एक पल के सुख के सामने अनन्त काल का दु:ख मिले ऐसा संसार किसे चाहिये? किसी को भी यह बात मंजूर नहीं होती, ऐसे संसार की चाह तो किसी की भी नहीं होती। सभी को सुख की ही आस और प्यास होती है। कोई भी दु:ख नहीं चाहता।

793. यह बात हमें पता नहीं होने से कि संसार में एक पल के सुख के सामने अनन्त काल का दु:ख है, हम अनजाने में ही अनादि से अपने लिये अनन्त काल के दु:खों का आरक्षण करते आ रहे हैं। अब यह कब तक जारी रखना है? ज़रा ठहरिये और सोचिये, उसी में अपना कल्याण छिपा है।

794. हम जिसे सुख कहते/मानते हैं वह हक़ीक़त में तो सुखाभास ही है। मगर वह सुख भी हमें मात्र त्रसकाय में ही मिल सकता है जिसकी अवधि दो हज़ार सागरोपम काल की ही है। बाद में नियम से हमें एकेन्द्रिय में जाना पड़ता है जहाँ दु;ख ही दु:ख है। जहाँ हम असंख्यात पुद्गलपरावर्तन काल तक रह सकते हैं। और एक पुद्गलपरावर्तन काल के अनन्तवें भाग में भी बीस क्रोडाक्रोडी सागरोपम के अनन्त कालचक्र होते हैं। इससे पता चलता है कि संसार में एक पल के सुख के सामने अनन्त काल का दु:ख कैसे मिलता है।

795. हम अपने इस १०० साल के छोटे-से जीवन में अपना अनन्त काल सुखमय, सुहाना बना सकते हैं इतनी ताक़त है सत्य धर्म में। फिर भी हम ऐसे उलटे सयाने है कि हमें अपने १०० साल के आयोजन (planning) में से फ़ुर्सत ही कहाँ है की हम अपने इस १०० साल के बाद के अनन्त काल के लिये सोचें। ज़रा ठहरिये और सोचिये, उसी में अपना कल्याण छिपा है।

796. लोगों को यह सोचना चाहिये कि क्या इस जीवन की शेष आयु के लिये आयोजन और उपार्जन में अपना शेष जीवन व्यतीत करना चाहिये या इस जीवन के बाद के अनन्त काल के सुख की प्राप्ति के लिये इसका उपयोग करना चाहिये? जिन्हें यह सत्य पता है कि इस जीवन में अपने आयोजन और उपार्जन से नहीं पर अपने पूर्व कर्मों से ही हमें अनुकूल या प्रतिकूल संयोग मिलते हैं, वे आयोजन और उपार्जन के लिये थोड़ा-सा ही पुरुषार्थ लगाते हैं और अपना अधिकांश समय अपना अनन्त काल सँवारने में लगाते हैं।

797. अपना इस जीवन और अपना अनन्त काल कैसे सँवारा जा सकता है? कैसे सुहाना बनाया जा सकता है? कैसे सुखमय बनाया जा सकता है? इसका उत्तर बहुत ही सरल है। हमें सत्य धर्म को अपनाना चाहिये और अपनी पहचान करनी चाहिये यानी सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त करना चाहिये। इससे अपना वर्तमान जीवन और अनन्त भविष्य काल भी सुहाना बन जायेगा, सुखमय बन जायेगा।

798. इस जीवन का काल (आयु) हमारे भविष्य के अनन्तकाल के सामने एक बिजली के चमकारे जितना भी नहीं है। और हमें अगर अन्धेरी रात में बिजली के चमकारे के प्रकाश में सुई में धागा पिरोना हो तब कितनी जागृति रखनी पड़ेगी, यह सोचना चाहिये। वैसी ही जागृति अगर हम इस जन्म में अपनी आत्मा को पतन से बचाने के लिये रखेंगे तब जाकर हमारा अनन्तकाल सुहाना बन सकता है, सुखमय बन सकता है।

799. हमें अपनी पहचान करनी चाहिये। यानी सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) की प्राप्ति करनी चाहिये। कैसे? उसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि जब हमें सुख बाहर दिखना बन्द होगा तब हम आत्मा में सुख की खोज करेंगे, तब हमें सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) हो सकता है। उसकी विस्तृत समझ के लिये हमारी पुस्तक "सम्यग्दर्शन की विधि" का चौबीसवाँ प्रकरण "सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता" अवश्य पढ़ें, और उस पर चिन्तन करें।

800. सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) की प्राप्ति कैसे करें? उसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि हमें अपने आप को बदलना है। कैसे? सत्य-धर्म की पहचान करें और उसके अनुकूल अपने को बदलें। सम्यग्दर्शन के लिये अपनी योग्यता बनाइये। उसकी विस्तृत समझ के लिये हमारी पुस्तक "सम्यग्दर्शन की विधि" का चौबीसवाँ प्रकरण "सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता" अवश्य पढ़ें तथा उसपर चिन्तन करें।

801. सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) के लिये सात तत्त्वों या नौ तत्त्वों को भी समझना चाहिये। क्योंकि इन तत्त्वों की सम्यक् श्रद्धा को भी सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) कहा जाता है। वे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इस प्रकार से सात हैं, उनमें पुण्य व पाप इन दो को जोड़ने पर नौ हैं।

802. सात तत्त्वों में जीव और अजीव ये दो तत्त्व जानने योग्य (ज्ञेय) हैं, आस्रव और बन्ध ये दो तत्त्व त्यागने योग्य (हेय) हैं तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन तत्त्व प्राप्त करने योग्य (उपादेय) हैं।

803. आस्रव और बन्ध को त्यागने योग्य (हेय) बताया है। उनमें पुण्य व पाप दोनों ही समाहित हैं। पुण्य व पाप दोनों मोक्ष (मुक्ति) की अपेक्षा तो एक समान हेय हैं, इसलिये कई लोग एकान्त से पुण्य व पाप दोनों को ही एक समान हेय बताते हैं। पर जब हम आत्मप्राप्ति की और मोक्षमार्ग की प्राप्ति की बात करते हैं तब वहाँ अपेक्षा से पहले पाप का त्याग होता है और एकमात्र मोक्ष के लक्ष्य से शुभ में (पुण्य में) रहना अपेक्षित होता है। क्योंकि अपेक्षा से पाप मार्ग में अड़चनरूप है और पुण्य मार्ग में सहायक है।

804. एकान्त से पुण्य व पाप को समान रूप से हेय कहनेवालों को स्थिति स्पष्ट करने हेतु और अपेक्षा समझाने हेतु ही सात तत्त्वों में पुण्य व पाप को जोड़कर नौ तत्त्वों के रूप में कहा गया है।

805. पुण्य व पाप को क्रमश: सोने की और लोहे की बेड़ी के समान कहा गया है, यह मोक्ष (मुक्ति) की अपेक्षा से है। आत्मप्राप्ति या मोक्षमार्ग की प्राप्ति की अपेक्षा से वे दोनों बेड़ी के सामान नहीं हैं क्योंकि पुण्य व पाप, ये दोनों आत्मप्राप्ति में रुकावट नहीं बनते और अपेक्षा से पाप व पुण्य मोक्षमार्ग में क्रमश: धूप व छाँव में बैठकर राह देखने समान हैं ।

806. अपेक्षा से सात अथवा नौ तत्त्वों का समावेश जीव और अजीव इन दो तत्त्वों में भी किया जा सकता है। पर मोक्षमार्ग को स्पष्ट करने हेतु और मोक्षमार्ग में ज्ञेय, हेय और उपादेय तत्त्वों की पहचान कराने के लिये उनका सात और नौ तत्त्वों तक विस्तार किया गया है।

807. जीव तत्त्व यानी सभी जीव, सभी आत्मा। भगवतीसूत्र में आत्मा के आठ प्रकार बताये हैं । वे इस प्रकार हैं — द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा। इस में से द्रव्यात्मा सिद्ध व संसारी सभी जीवों में पायी जाती है। अर्थात् द्रव्यात्मा ही शुद्धात्मा है।

808. द्रव्यात्मा को कई लोग द्रव्य व पर्याय के सन्दर्भ से न समझ के द्रव्य व भाव के सन्दर्भ से समझते हैं। वास्तव में द्रव्य व भाव को भी हम द्रव्य व पर्याय कह सकते हैं। इससे यह तय होता है कि द्रव्यात्मा जीव का त्रिकाल द्रव्य है, वह त्रिकाली ध्रुव है, वह शुद्धात्मा है। इसलिये द्रव्यात्मा सिद्ध व संसारी सभी जीवों में पायी जाती है।

809. जिन्हें नय का ज्ञान नहीं है वे लोग "द्रव्यात्मा जीव का त्रिकाल द्रव्य है, वह त्रिकाली ध्रुव है, वह शुद्धात्मा है" ये बातें समझ नहीं सकते। उन्हें लगता है कि संसारी जीव में शुद्धात्मा कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। उन्हें यह बात सम्यक् नय से समझना आवश्यक है कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से द्रव्यात्मा ही शुद्धात्मा है, त्रिकाली ध्रुव है।

810. कई लोग जीव तत्त्व में सिर्फ़ शुद्धात्मा यानी त्रिकाली ध्रुव को ही मानते हैं। वे एक ही नय से जीव की व्याख्या करते है, वे सिर्फ़ शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से ही जीव की व्याख्या करते हैं और अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव तत्त्व की व्याख्या को ही नकार देते हैं । पर जीव तत्त्व को समग्रता से समझने के लिये सभी नयों से उसे समझना आवश्यक है।

811. कई लोग जीव तत्त्व में भी द्रव्य सत् और पर्याय सत् ऐसे दो सत् तलाशते हैं । वे अपेक्षा से कहे जा सकते हैं मगर एकान्त से नहीं माने जा सकते क्योंकि जीव तत्त्व एक अभेद तत्त्व है। अभेद जीव तत्त्व में कल्पना करके समझाने के लिये भेद किये गये हैं, जीव तत्त्व में वास्तविक भेद नहीं है।

812. कई लोग जीव तत्त्व में भी द्रव्य, गुण और पर्याय ऐसे तीन भेद को वास्तविक मानते हैं । वे अपेक्षा से कहे जा सकते हैं मगर एकान्त से नहीं माने जा सकते क्योंकि जीव तत्त्व एक अभेद तत्त्व है। अभेद जीव तत्त्व में कल्पना करके समझाने के लिये भेद किये गये हैं, जीव तत्त्व में वास्तविक भेद नहीं है।

813. अनादि से हमने अनन्त बार अभेद जीवतत्त्व को समझाने के लिये किये गये काल्पनिक भेदों को वास्तविक भेद मानकर अपने कई जीवन नष्ट किये हैं, अनन्तानन्त दु:ख सहे हैं। अब कब तक यह जारी रखना है? इसके बारे में सोचकर अपनी मान्यता को सम्यक् बनाना चाहिये।

814. समग्रता से जीवतत्त्व को समझने से पता चलता है कि जीवतत्त्व की पर्याय में द्रव्य छिपा है। पर्याय को गौण करते ही द्रव्य प्राप्त होता है। अर्थात् पर्याय द्रव्य का ही बना हुआ है। पर्याय द्रव्य का ही वर्तमान रूप है।

815. सभी नयों से जीवतत्त्व को समझने पर हमें पता चलता है कि अभी हम जिस विभावमय जीव का अनुभव कर रहे हैं, उसके विभाव को गौण करते ही शुद्धात्मा पायी जा सकती है। वही द्रव्यात्मा है, वही त्रिकाली ध्रुव है। उसी के अनुभव से सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त होता है।

816. सभी नयों से जीवतत्त्व को समझने पर हमें पता चलता है कि अभी जो हम विभावमय जीव का अनुभव कर रहे हैं वह भी सत्य है, स्वप्न (मिथ्या) नहीं है। वह विभाव ही जीव की वर्तमान पर्याय है। उस विभाव पर्याय को गौण करते ही हमें शुद्धात्मा प्राप्त होती है।

817. कई लोग विभावमय जीव होने के बावजूद भी अपने को शुद्धात्मा मानने लगते हैं। वे अपने को वर्तमान में ही शुद्धात्मा मानकर अपनी वर्तमान विभावमय स्थिति को नज़र-अन्दाज़ करके भ्रम में ही जीना पसन्द करते हैं। उनकी यह स्थिति जीवतत्त्व को सम्यक् रूप से न समझने से पैदा हुई है।

818. तत्त्व को सम्यक् रूप से समझने हेतु जीव को समग्रता से, सभी नयों से स्वीकार करना चाहिये। और वर्तमान विभावमय स्थिति में ही विभाव को गौण करके शुद्धात्मा का अनुभव करना चाहिये। इस स्वात्मानुभूति के बाद सहज ही अपनी प्रतीति में वे स्वयं को शुद्धात्मा ही मानेंगे, पर अपनी वर्तमान विभावमय स्थिति को नज़र-अन्दाज़ न करते हुए अपनी शक्ति अनुसार विभाव से मुक्त होने के लिये पुरुषार्थ प्रारम्भ करेंगे। उसी को मोक्ष की साधना कहते हैं, मोक्षमार्ग कहते हैं।

819. अनादि से हमने अनन्त बार अपने आप को एकान्त शुद्ध समझकर अपने कई जीवन नष्ट किये हैं, अनन्तानन्त दु:ख सहे हैं। अब कब तक यह जारी रखना है? इसके बारे में सोचकर अपनी मान्यता को सम्यक् बनाना चाहिये।

820. अनादि से हमने अनन्त बार अपने आप को एकान्त अशुद्ध समझकर अपने कई जीवन नष्ट किये हैं, अनन्तानन्त दु:ख सहे हैं। अब कब तक यह जारी रखना है? इसके बारे में सोचकर अपनी मान्यता को सम्यक् बनाना चाहिये।

821. जीवतत्त्व का लक्षण उपयोग है। उपयोग दो प्रकार से होता है - ज्ञान (साकार) एवं दर्शन (अनाकार)। जानना-देखना जीव का लक्षण है, उसी से जीव की पहचान होती है। मैं जानने-देखनेवाला हूँ यह सोचकर जीव का अनुभव करना चाहिये। उसी को सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) कहते हैं।

822. जब किसी की मृत्यु होती है तब उसका शरीर तो रह जाता है लेकिन उसकी आत्मा चली जाती है। इसलिये वह मृत देह जान-देख नहीं पाती। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है। स्वयं को अजर-अमर आत्मा मानना है, न कि शरीर मानना है।

823. कई लोग जीवतत्त्व को शरीरव्यापी न मानकर अंगुष्ठमात्र क्षेत्र में रहनेवाला मानते हैं। अगर जीवतत्त्व शरीरव्यापी न होता तो शरीर के हर भाग में संवेदना होना सम्भव ही नहीं होता। जैसे नाख़ून काटते वक़्त पीड़ा नहीं होती लेकिन अगर ज़िन्दा नाख़ून कट जाय तो पीड़ा अवश्य ही होती है। इससे समझ में आता है कि जीवतत्त्व पूर्ण शरीर में विद्यमान है और जहाँ जीवतत्त्व मौजूद है वहीं संवेदना होती है।

824. कुछ लोग जीवतत्त्व को नित्य-अपरिणामी मानते हैं और कुछ लोग जीवतत्त्व को मात्र परिणामों के प्रवाह रूप से अनित्य मानते हैं। पर सम्यक् रूप से जीवतत्त्व नित्य-परिणामी है अर्थात् वह नित्य तो है लेकिन परिणमनशील है। यदि हम सोने की अँगूठी तुड़वाकर उसी सोने की बाली बनवाते हैं तो उसमें सोना तो वैसा का वैसा ही रहता है मगर उसका परिणमन अँगूठी से बाली के रूप में हो जाता है।

825. कुछ लोग जीवतत्त्व को एकान्त रूप से कर्ता या अकर्ता मानते हैं। एक अपेक्षा से जीवतत्त्व अपना कर्ता है और पर का अकर्ता है। अन्य अपेक्षा से अज्ञानी जीव कर्ता है और ज्ञानी जीव अकर्ता है। सभी पहलुओं को यथार्थरूप से न समझकर जीव अपना अनन्त संसार बढ़ाता है और अपना अनन्तकाल दु:खमय बनाता है। इससे सभी को बचना चाहिये अर्थात् जीवतत्त्व को समग्रता से ग्रहण करना चाहिये।

826. जीवतत्त्व लोक के समान असंख्यात प्रदेशी है। कई लोग जीवतत्त्व को शरीर जितना ही छोटा-बड़ा मानते हैं। वे जीवतत्त्व की संकोच-विस्तार शक्ति को नहीं जानते जिसके द्वारा जीवतत्त्व स्वयं को प्राप्त शरीर जितना छोटा या बड़ा बना लेता है।

827. जीवतत्त्व में पाँच भाव होते हैं। वे इस प्रकार हैं - पारिणामिक, औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक। जीवतत्त्व मूलत: पारिणामिक भाव का ही बना है परन्तु कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम या क्षय की अपेक्षा से अन्य चार भाव कहे जाते हैं।

828. जीवतत्त्व मूलत: पारिणामिक भाव का बना होने के बावजूद उसकी गति, इन्द्रिय, संज्ञा, काया, पर्याप्ति इत्यादि के अनुसार कई भेद होते हैं। उन सभी भेदों को यथार्थ रूप से समझने से

संसार का स्वरूप समझ में आता है। उसी से सच्चा वैराग्य जन्म लेता है जिससे आत्मकल्याण सम्भव होता है।

829. जीवतत्त्व सम्पूर्ण लोक में ठसाठस भरा हुआ है। वह सूक्ष्म व बादर इन दो रूपों में विद्यमान है। सूक्ष्म जीव एकेन्द्रिय ही होते हैं, बादर जीव एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक होते हैं। बादर जीव पृथ्वी और विमान के आधार से हैं और सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में ठसाठस भरे हुए हैं। केवलीसमुद्घात के समय जीव स्वयं एक समय के लिये सम्पूर्ण लोकव्यापी होता है।

830. अजीवतत्त्व रूपी और अरूपी दो प्रकार से है। एकमात्र पुद्गल तत्त्व ही रूपी है। अरूपी के चार प्रकार हैं - धर्म, अधर्म, अकाश और काल। मोटे तौर से जिस का रुप दिखता है, इन्द्रियग्राह्य है वह रूपी है और जो नहीं दिखता, इन्द्रियग्राह्य नहीं होता वह अरूपी है।

831. इस जगत में जो भी दृश्यमान हैं वे सभी पुद्गल के ही विविध रूप हैं। कुछ पुद्गल सूक्ष्म भी होते हैं जो कि हमें दिखते नहीं पर वे सर्वावधि ज्ञानी को अवश्य दिखते हैं। पुदगल में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान इत्यादि होते हैं इसलिये उसे रूपी कहते हैं।

832. लोक में पुद्गल अनन्तानन्त हैं। वे एक यानी परमाणु के रूप में भी विद्यमान हैं और अनेकों के समूहरूपी स्कन्ध (पुद्गलास्तिकाय) के रूप में भी विद्यमान हैं। अनन्तानन्त पुद्गलों का ऐसा भी स्कन्ध होता है जो एक समय के लिये लोकव्यापी होता है।

833. धर्म, अधर्म, अकाश और काल में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, इत्यादि नहीं होते इसलिये उन्हें अरूपी कहते हैं। वे छद्मस्थ को नहीं दिखते। वे केवलज्ञान के ज्ञेय हैं।

834. धर्म या धर्मास्तिकाय (धर्म का समूह) पूरे लोक में एक अखण्ड ही है, पूर्णलोकव्यापी है। वह गतिपरिणत जीव या पुद्गल को गति में निमित्त (facilitator) बनकर सहायता करता है। जैसे पानी मछली को गति में सहायक होता है, उसी प्रकार से धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल दोनों की गति में सहायक होता है।

835. धर्मास्तिकाय सदैव अपने पारिणामिक भाव में ही परिणमन करता रहता है। लोग धर्मास्तिकाय को मानें या न मानें पर यह बात भगवान की बतायी हुई है और आज का विज्ञान भी इसे इथर (ether - the upper regions of air beyond the clouds, medium of motion for light) के रूप में मानता है।

836. अधर्म या अधर्मास्तिकाय (अधर्म का समूह) पूरे लोक में एक अखण्ड ही है, पूर्णलोकव्यापी है। वह स्थितिपरिणत जीव या पुद्गल को स्थिति में निमित्त (facilitator) बनकर सहायता करता है। जैसे कुर्सी बैठने में सहायक होती है, उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल की स्थिति (स्थिरता) में सहायक है।

837. अधर्मास्तिकाय सदैव अपने पारिणामिक भाव में ही परिणमता रहता है। लोग अधर्मास्तिकाय को मानें या न मानें पर यह बात भगवान की बतायी हुई है और आज का विज्ञान भी इसे गुरुत्वाकर्षण (gravity) के रूप में मानता है।

838. आकाशास्तिकाय (सम्पूर्ण आकाश) लोक व अलोक में एक अखण्ड ही है, अनन्त है। उसके जितने भाग में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव, पुद्गल इत्यादि हैं उस भाग को लोकाकाश कहते हैं और बाक़ी आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। वह सभी द्रव्यों को अवगाहना में निमित्त (facilitator) बनकर सहायता करता है।

839. आकाशास्तिकाय सदैव अपने पारिणामिक भाव में ही परिणमन करता रहता है। लोग लोकाकाश और अलोकाकाश को मानें या न मानें पर यह बात भगवान की बतायी हुई है। आज का विज्ञान भी लोकाकाश को अनन्त नहीं मानता, क्योंकि अगर लोकाकाश को अनन्त मानें तो फिर सभी द्रव्य अनन्त लोकाकाश में बिखर जायेंगे।

840. काल का स्वभाव वर्तना है। काल का व्यवहारिक स्वरूप भूतकाल, वर्तमान और भविष्य व सेकण्ड, मिनिट, घण्टा, दिन, महीना, ऋतु, साल, युग इत्यादि के रूप में प्रचलित है। काल नये को पुराना करता है। काल को द्रव्य की वर्तमान पर्याय के रूप में भी जाना जाता है। निश्चय से कालाणु सम्पूर्ण लोक के हर प्रदेश में विद्यमान हैं।

841. एक काल सदैव दूसरे काल से स्वतन्त्र होता है, वह अस्तिकायरूप (समूह रूप) नहीं होता। क्योंकि वर्तमान सदैव एक समय का ही होता है, दूसरे समय में वह भूतकाल बन जाता है। भगवान ने आँख के एक पलकारे में असंख्यात समय बताये हैं। लोग इस बात को मानें या न मानें परन्तु आज का विज्ञान भी उसे नैनोसेकण्ड (एक सेकण्ड का १०००००००००वाँ भाग) के रूप में अवश्य स्वीकार करता है।

842. एक पक्ष काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानता है और दूसरा पक्ष उसे जीव-अजीव के पर्याय के प्रवाह के रूप में मानता है। आप काल को जैसा भी मानें, इससे आपके सम्यग्दर्शन पर कोई फ़र्क़

नहीं पड़ता, बाधारूप नहीं होता। अर्थात् यह बात आपके लिये कार्यकारी नहीं है, सम्यग्दर्शन में सहायक नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शन में स्व का निर्णय कार्यकारी है न कि पर का (काल का) निर्णय।

843. जिस कारण से आत्मा में कर्मों का आना होता है उसे आस्रव कहते हैं। वैकल्पिक रूप से कर्मों का आत्मा के प्रति आकर्षण भी आस्रव कहा जाता है। मुख्यत: आकर्षण के कारण पाँच हैं। वे इस प्रकार हैं — मिथ्यात्व (पहला गुणस्थान), अविरति (पाँचवें गुणस्थान तक), प्रमाद (छठवें गुणस्थान तक), कषाय (दसवें गुणस्थान तक) और योग (तेरहवें गुणस्थान तक)।

844. मुख्यत: आत्मा मिथ्यात्वादि कारणसहित राग-द्वेष (विषय-कषाय) करती है जिससे कर्मों का आत्मा के समीप आना (आकर्षण) होता है। इसे ही आस्रव कहते हैं। जब तक जीव पहले गुणस्थानकवर्ती यानी मिथ्यात्वी होता है तब तक उसमें आस्रव के पाँचों कारण — मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग — विद्यमान होते हैं।

845. मिथ्यात्व के त्याग पश्चात यानी सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त होने पर चतुर्थ और पंचम गुणस्थानक तक आत्मा क्रमश: अविरति और देश अविरति (देश विरति) होती है। इसलिये इन दो गुणस्थानकों में आस्रव के चार कारण — अविरति, प्रमाद, कषाय और योग विद्यमान होते हैं।

846. आस्रव के पाँच कारण — मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को अगर ९ कि संख्या दें तब पाँचों आस्रवों को ९९,९९९ इस तरह से कह सकते हैं। इसमें से जब मिथ्यात्व जाता है तब पहला ९ निकलता है और आस्रव केवल ९,९९९ ही रह जाता है। इसी प्रकार जब जीव छठवें गुणस्थानक पर पहुँचता है तब दूसरा ९ निकलकर आस्रव केवल ९९९ ही बचता है। इस तरह से जीव गुणस्थानक आरोहण करता जाता है और एक-एक ९ निकलता जाता है और चौदहवें गुणस्थानक पर सम्पूर्ण आस्रव का निरोध हो जाता है।

847. जब हम दीक्षा ग्रहण करते हैं यानी साधु बनते हैं तब द्रव्यरूप से तो मिथ्यात्व और अविरति इन दो आस्रवों का निरोध हो गया ऐसा मानते हैं। इसी लिये कहा जाता है कि "जो साधु बने वह महान है"। वास्तव में देखा जाये तो समझ में आता है कि यदि हम सम्यग्दर्शन और विरति-परिणामसहित साधु बनते हैं तभी मिथ्यात्व और अविरति इन दो आस्रवों का निरोध होता है, अन्यथा नहीं। इससे हम कह सकते हैं कि यद्यपि साधु बनना मोक्ष की गारण्टी नहीं परन्तु सम्यग्दृष्टि बनना मोक्ष की पक्की गारण्टी है। इसलिये यह कहा जाना चाहिये कि "जो सम्यग्दृष्टि बने वह महान है"।

इससे यह न समझें कि हम साधु बनने को मना कर रहे हैं। साधु बनना तो अच्छा ही है। परन्तु यदि सम्यग्दर्शन न हो तब सिर्फ़ साधु बनकर अपने को महान न मानते हुए एकमात्र सम्यग्दर्शन के लक्ष्य से साधुत्व पालना चाहिये।

848. आत्मा के साथ कर्मों का जो जुड़ना होता है उसे बन्ध कहते हैं, वैकल्पिक रूप से जिन कारणों से कर्मों का आत्मा के साथ जुड़ना होता है उन कारणों को भी बन्ध कहा जाता है। बन्ध चार प्रकार से होता है — प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध।

849. प्रकृतिबन्ध यानी ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मप्रकृतियों का बन्ध। स्थितिबन्ध यह तय करता है कि वह कर्म कितने काल तक आत्मा के साथ स्थित रहेगा। अनुभागबन्ध यह तय करता है कि कर्म तीव्र, मन्द या मध्यम इत्यादि कैसा फल देगा। प्रदेशबन्ध यह तय करता है कि बँधनेवाले कर्मदलिकों की संख्या कितनी होगी। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध मन-वचन-काय के योग के निमित्त से (के आधार पर) होते हैं तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय के निमित्त से (के आधार पर) होते हैं।

850. कर्मों का बन्धन आत्मा की उच्च, मध्यम, नीच, इत्यादि स्थितियों के अनुसार होता है। चतुर्थ गुणस्थानक में सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) होने के बाद पापकर्मों की स्थिति और अनुभाग कम होते जाते हैं। फिर ऊपर-ऊपर के गुणस्थानकों में भी पाप का बन्ध कम और पुण्य का बन्ध अधिकाधिक होता जाता है और पुण्य का तीव्र अनुभाग व पाप का मन्द अनुभाग बँधता जाता है।

851. पुण्यतत्त्व व पापतत्त्व आस्रव-बन्ध के अन्तर्गत समाहित होने के बावजूद उन्हें विशेष स्पष्टीकरण के लिये अलग से बताया है। पुण्य से इष्टसंयोग और अनिष्टवियोग होता है जबकि पाप से उसके विपरीत अनिष्टसंयोग और इष्टवियोग होता है। इसलिये पुण्य से सुख और पाप से दु:ख मिलता है ऐसा कहा जा सकता है।

852. हालाँकि मोक्ष (मुक्ति) की अपेक्षा से पुण्य व पाप दोनों ही समान रूप से हेय हैं तथापि जब तक जीव सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) नहीं पाता और जब तक जीव सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त करने के बाद मोक्ष नहीं पाता तब तक उसे दु:ख की अपेक्षा सुख अच्छा लगता है। वैसे भी सभी जीवों को दु:ख नहीं सुख ही पसन्द होता है। यही फ़र्क़ है पुण्य और पाप में।

853. पुण्य अनुकूल आकुलता देता है और पाप प्रतिकूल आकूलता देता है। इस अपेक्षा से दोनों ही आकुलता देते हैं तथापि आध्यात्मिक मार्ग में पहले पाप छूटता है फिर मोक्ष के लक्ष्य से पुण्य (शुभ

में रहना) होता है। शुद्धोपयोग में स्थित हो जाने के बाद शुभ का भाव भी छूट जाता है मगर बाद में जब तक योग है तब तक वह जीव नियम से पुण्योपार्जन ही करता है।

854. जीव के अच्छे और धर्मानुकूल भाव से पुण्य बन्धता है और बुरे और धर्मविरुद्ध भाव से पाप बन्धता है। वैसे लोक में भी लोग अच्छे की ही सराहना करते हैं न कि बुरे की। इससे भी पता चलता है कि अशुभ की अपेक्षा शुभ, लौकिक व परलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में एक अपेक्षा से (शुद्ध के लक्ष्य से) उपादेय है।

855. यह बात सर्वविदित है कि पुण्य से सांसारिक सुख मिलते हैं और पाप से दुःख मिलते हैं। इससे समझ में आता है पुण्य से नसीब बनता है और पाप से नसीब बिगड़ता है। यह बात सभी सुख के इच्छुकों को याद रखनी चाहिये और पाप से दूरी बनानी चाहिये।

856. संसार के सभी सुख — माता-पिता, धन-धान्य, सन्तान, पत्नी-पति, घर-द्वार, हीरे-जवाहरात, मित्र, उद्योग-व्यापार इत्यादि सभी संयोग पुण्य और पाप से ही तय होते हैं। अगर पुण्य भरपूर हो तब सब कुछ अनुकूल मिलता है और अगर पाप भरपूर हो तब सब कुछ प्रतिकूल मिलता है। अगर दोनों कम-ज़्यादा हों तब कुछ अनुकूलता और कुछ प्रतिकूलता मिलती है। इसलिये अपनी प्रतिकूलता के लिये दूसरों को दोष न देकर के उसे अपने ही पूर्व के पापों का फल मानना चाहिये और 'धन्यवाद! स्वागतम! (Thank you! Welcome!)' का भाव करना चाहिये जिससे हम नये पापों से बच जायें।

857. सभी को अपने मन को टटोलकर जाँचना चाहिये कि मुझे सुख चाहिये या दुःख चाहिये? अगर उत्तर में यह प्रतीत होता है कि मुझे तो सुख ही चाहिये तो सभी प्रकार के पापों से बचना चाहिये। ख़ास करके सप्त महाव्यसन (जुआँ, शराब, मांसभक्षण, वेश्यागमन, चोरी, शिकार, परस्त्री या परपुरुष गमन), रात्रिभोजन, कन्दमूलभक्षण, अभक्ष्यभक्षण (अचार, पापड़, मधु, मक्खन, चीज़ इत्यादि का सेवन) इत्यादि से दूर ही रहना आवश्यक है। और मोक्ष के लक्ष्य से सबसे बड़े पाप मित्यात्व के नाश का यत्न करते हुए यथाशक्य पुण्य करना भी आवश्यक है।

858. पुण्य मात्र थोड़े ही काल के लिये संयोगी सुख दे सकता है पर वह जीव आगे अगर सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त कर मोक्ष नहीं पा लेता तो वह नियम से कुछ काल के बाद एकेन्द्रिय में ही जन्म लेगा, जहाँ दुःख ही दुःख हैं। और अगर उसने सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) नहीं पाया तब उसे एकेन्द्रिय में असंख्यात पुद्गलपरावर्तन काल तक रहना पड़ सकता है। और एक पुद्गलपरावर्तन

काल के अनन्तवें भाग में भी बीस क्रोडाक्रोडी सागरोपम के अनन्त कालचक्र होते हैं। इससे पता चलता है कि संसार में मात्र पुण्य के बल पर अनन्त काल के दुःख से बचा नहीं सकता। अनन्त काल के दुःख से बचने हेतु सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) अत्यन्त-अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये सभी को अपना पूरा जीवन सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) की प्राप्ति के लिये ही लगाना चाहिये।

859. पुण्य व पाप दोनों ही दो-दो प्रकार के हैं। एक पुण्यानुबन्धी और दूसरा पापानुबन्धी। अभी बाँधे हुए पुण्य या पाप का जब उदय होगा तब अगर शुभभाव होगा तो उसे क्रमशः पुण्यानुबन्धी पुण्य या पुण्यानुबन्धी पाप कहते हैं। इसी तरह अभी बाँधे हुए पुण्य या पाप का जब उदय होगा तब अगर अशुभभाव होगा तो उसे क्रमशः पापानुबन्धी पुण्य या पापानुबन्धी पाप कहते हैं।

860. पुण्य व पाप कर्मों का बन्ध जीव के वर्तमान भाव से तय होता है, अर्थात वर्तमान भाव अगर शुभ है तब पुण्य कर्म बन्धेगा और वर्तमान भाव अगर अशुभ है तो पाप कर्म बन्धेगा। पर उसका अनुबन्ध उस जीव के अभिप्राय से तय होता है अर्थात अगर अभिप्राय सम्यक् है तो पुण्यानुबन्धी पुण्य या पुण्यानुबन्धी पाप बन्धेगा और अगर अभिप्राय मिथ्या है तब पापानुबन्धी पुण्य या पापानुबन्धी पाप बन्धेगा।

861. सम्यक् अभिप्राय के लिये सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) होना आवश्यक है। इससे यह तय होता है कि बग़ैर सम्यग्दर्शन के पुण्य व पाप दोनों ही पापानुबन्धी ही बँधेंगे। इसलिये साधक हो या साधु, सभी मोक्षेच्छुकों को वर्तमान जीवन में मोक्षमार्ग में प्रवेश हेतु नियम से सम्यग्दर्शन पाना अत्यावश्यक है। इसलिये हमें अपनी सभी धार्मिक क्रियाएँ एकमात्र मोक्ष के लक्ष्य से ही करनी चाहिये।

862. पुण्यरूप अनुबन्ध को कुशलानुबन्ध भी बताया जाता है। इसलिये यह समझना आवश्यक है कि बिना सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) के कुशलानुबन्ध होना शक्य नहीं होता। और यहाँ सम्यग्दर्शन यानी निश्चय सम्यग्दर्शन ही समझना आवश्यक है जिसका लक्षण स्वात्मानुभूति है। बाद में जब तक सम्यग्दर्शन टिकता है तब तक प्रतीति बनी रहनी तय है। स्वात्मानुभूति छह महीने में एक बार अवश्य होती है नहीं तो प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन चला जाता है।

863. कई लोग अमृत अनुष्ठान (भगवान के सन्मुख अश्रुपात होना, रोमराशि पुलकित होना, इत्यादि) को भी सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) का लक्षण बताते हैं। एक आचार्य भगवन्त ने भी प्रश्नोतरी में यह बात बतायी है। यह बात अपेक्षा से सच हो सकती है पर एकान्त से नहीं। क्योंकि अगर

एकान्त से अमृत अनुष्ठान जो बाह्य अंग है उसी को सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) का लक्षण मान लें तो शास्त्रों में बताये शुद्धोपयोग की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इसलिये हमें यह समझना चाहिये कि अश्रुपात इत्यादि सम्यग्दर्शन सहित भी हो सकते हैं और सम्यग्दर्शन बग़ैर भी हो सकते हैं पर शुद्धोपयोग हो और सम्यग्दर्शन न हो ऐसा कभी नहीं होता। अर्थात् अश्रुपात इत्यादि के साथ सम्यग्दर्शन का वैसा अविनाभावी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता जैसा अविनाभावी सम्बन्ध सम्यग्दर्शन का शुद्धोपयोग के साथ माना गया है।

864. संवर तत्त्व यानी कर्मों का आस्रव (आना) आंशिकरूप से या पूर्णरूप से रुक जाना। आस्रव के पाँच द्वार हैं — मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन कारणों का आंशिक या पूर्ण निरोध होना ही संवर कहलाता है और इनका आंशिक या पूर्ण निरोध गुणस्थानक आरोहण से ही होता है न कि अन्य किसी रीति से। हमने अनादि से अनन्त बार दीक्षा ग्रहण की पर बग़ैर गुणस्थानक की प्राप्ति के वे दीक्षायें हमारी आत्मा के लिये कार्यकारी सिद्ध नहीं हुईं।

865. मिथ्यात्व का संवर निश्चय सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) से ही होता है न कि व्यवहार सम्यग्दर्शन से। अर्थात् जैसे देव-शास्त्र-गुरु-धर्म की स्वात्मानुभूतिरहित श्रद्धा या नौ तत्त्वों की स्वात्मानुभूतिरहित श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाती है पर उससे मिथ्यात्व का संवर नहीं होता। इसलिये हम सभी को अपना पूरा जीवन निश्चय सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) की प्राप्ति के लिये ही लगाना उचित होगा अन्यथा हम स्वयं ही अपने अनन्त भविष्य को दुःखमय बनाने में निमित्त बनेंगे।

866. सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त होते ही उस जीव के अभिप्राय में सर्वविरति के ही भाव होते हैं। परन्तु जब तक वह जीव अपनी कमज़ोरी के कारण (चारित्रमोहनीय कर्मों के कारण) दीक्षा ग्रहण नहीं करता तब तक उसे अविरति का आस्रव रहेगा यानी अविरति का संवर नहीं होगा। अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) सहित दीक्षा ग्रहण के बाद ही अविरति आस्रव का संवर होता है अन्यथा नहीं। यह बात समझने जैसी है। इसलिये हमारा पुरुषार्थ सिर्फ़ दीक्षाग्रहण का नहीं पर सम्यग्दर्शन सहित दीक्षाग्रहण का होना चाहिये जिससे हमारा अक्षयकल्याण (सिद्धत्व) शक्य हो।

867. सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्ति के बाद उस जीव के अभिप्राय में तो सर्वविरति के ही भाव होते हैं पर वह जीव अगर अपनी कमज़ोरी के कारण (चारित्रमोहनीय कर्मों के कारण) सर्वविरति ग्रहण नहीं करता तब तक अपनी शक्ति अनुसार देशविरति अवश्य ग्रहण कर सकता है। उसे तब जितनी विरति होगी उतना संवर अवश्य होगा, अर्थात् अविरति का देशसंवर होगा।

868. सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) सहित दीक्षाग्रहण के पश्चात छठवें-सातवें गुणस्थानक में झूलता हुआ जीव जब सातवें गुणस्थानक में होता है तब उसे प्रमाद का संवर होता है। इसलिये सातवें गुणस्थानक को अप्रमत्त गुणस्थानक बताया गया है। अर्थात् छठवें गुणस्थानक तक प्रमाद का आस्रव होता है।

869. सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त जीव जब सातवें गुणस्थानक से ऊपर चढ़ता है तब दसवें गुणस्थानक तक उसे सूक्ष्म कषाय होते हैं। इसलिये दसवें गुणस्थानक का नाम सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानक है। जीव को दसवें गुणस्थानक तक कषाय का अस्रव होता है, कषाय का पूर्ण संवर नहीं होता। कषाय का पूर्ण संवर दसवें गुणस्थानक के बाद ही होता है। तब तक जितने कषाय का उपशम या क्षय होता है उतने कषाय का संवर अवश्य होता है, अर्थात् कषाय का देशसंवर होता है।

870. सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त जीव जब क्षपकश्रेणी से चढ़कर तेरहवें गुणस्थान में आता है तब उसे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त होते हैं परन्तु तब उसे शरीर का संयोग होने से पूर्णरूप से योग का संवर नहीं होता। जब वह जीव चौदहवें गुणस्थानक में प्रवेश करता है तब उसे योग आस्रव का संवर होता है, इसलिये चौदहवें गुणस्थानक का नाम अयोगकेवली गुणस्थानक है। इस तरह उस जीव को चौदहवें गुणस्थानक में समस्त आस्रव का संवर होता है और अन्तर्मुहूर्त में ही वह जीव सिद्धत्व प्राप्त करता है, मुक्त हो जाता है। यही मुक्ति हम सभी का लक्ष्य होना चाहिये।

871. मुक्ति (मोक्ष, सिद्धत्व) हेतु सच्चे (कार्यकारी) संवर का बहुत ही महत्व है। इसलिये संवर को नौ तत्त्वों में उपादेय की श्रेणी में रखा गया है। अज्ञानी जीव को कार्यकारी संवर की प्राप्ति के लिये सबसे पहले निश्चय सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त करना आवश्यक है। निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद अविरति के संवर के लिये छठवें गुणस्थानक सहित दीक्षा आवश्यक है। इस तरह मुक्ति हेतु एक के बाद एक आस्रवों के संवर के लिये आगे बढ़ते हुए अन्ततः मुक्ति ही प्राप्त करनी है। इसलिये कई लोगों ने मोक्ष को ही परम (सर्वदेश) उपादेय बताया है और संवर व निर्जरा को एकदेश उपादेय बताया है।

872. निर्जरा तत्त्व यानी आत्मा के साथ बन्धे कर्मों का आंशिक रूप से खिर जाना। निर्जरा के दो प्रकार हैं - अकाम निर्जरा और सकाम निर्जरा। अकाम निर्जरा सभी जीवों को होती है और सकाम निर्जरा चतुर्थादि गुणस्थानक आरोहण से ही होती है न कि अन्य किसी रीति से। अनादि से हमने अनन्त बार दीक्षा ग्रहण की पर बिना गुणस्थानक प्राप्त किये वे दीक्षाएँ अपनी आत्मा के लिये

कार्यकारी नहीं हुईं क्योंकि उनसे निर्जरा अवश्य हुई होगी पर जो गुणस्थानक आरोहण से गुणश्रेणी निर्जरा होती है वह नहीं होने से वे दीक्षाएँ कार्यकारी नहीं हुईं।

873. गुणश्रेणी निर्जरा सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) की प्राप्ति के बाद ही होती है। गुणश्रेणी निर्जरा चौथे गुणस्थनक से लेकर ऊपर-ऊपर के गुणस्थनकों में अधिकाधिक होती है। जैसे-जैसे आत्मा की विशुद्धि बढ़ती जाती है वैसे-वैसे गुणश्रेणी निर्जरा भी अधिकाधिक होती जाती है। इसलिये सभी जीवों को अपनी आत्मा की विशुद्धि बढ़ाते रहना चाहिये। वैसा पुरुषार्थ ही सभी साधकों के लिये कर्तव्य है।

874. कर्मों से सम्पूर्ण मुक्ति को ही मोक्ष कहते हैं। सभी आस्रवों का संवर हो जाने से अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण कर्मों की भी निर्जरा (क्षय) हो जाती है। उसे ही मोक्ष कहते हैं। उसी समय सत्-चित्-आनन्द-स्वरुप वह आत्मा लोकाग्र में पहुँचकर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य में सादि अनन्त काल के लिये स्थिर हो जाती है।

875. सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) मोक्षमार्ग का द्वार है। इसलिये जिसे मुक्त होना है उसे सबसे पहले सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है न कि दीक्षा की। कई लोग कहते हैं कि मोक्ष चाहिये तो दीक्षा तो लेनी ही पड़ेगी, बिना दीक्षा लिये आप मोक्ष नहीं जा सकते। इसलिये वे ऐसा भी कहते हैं कि "जो साधु बने वह महान है"। ऐसे लोगों को यह समझना आवश्यक है कि जिन्हें सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है उनके अभिप्राय में दीक्षा होती ही है लेकिन वे तब तक दीक्षा नहीं लेते जब तक उन्हें यह पक्का यक़ीन न हो जाय कि हम दीक्षा लेकर उसका पूर्ण पालन कर पायेंगे और हम सचमुच छठवें-सातवें गुणस्थानक का आनन्द ले पायेंगे। उनके लिये दीक्षा अपूर्व आनन्द का अवसर है न कि अन्य कोई इच्छा या आशा या अपेक्षा का। हम अभ्यास हेतु या पाप से बचने हेतु अवश्य दीक्षा ले सकते हैं पर अगर हमारी यही मान्यता रही कि हमने दीक्षा ले ली है सो अब हमारा कल्याण निश्चित ही है तो हमें उस मान्यता को ठीक करने की ज़रूरत अवश्य ही है। अन्यथा ऐसी मान्यता हमें अनन्त संसार में भटका सकती है। ऐसी मान्यता के कारण हमारा पूरा बल दीक्षाप्राप्ति पर केन्द्रित होगा न कि सम्यग्दर्शनप्राप्ति पर जो कि मोक्षमार्ग का द्वार है। यही अपनी अनादि की कहानी रही है। पर अब नहीं, कभी नहीं।

876. शीलभंग यानी अनैतिक या अवैध शारीरिक सम्बन्ध में मन, वचन या काया से सम्मिलित होना।

877. शीलभंग पापबन्ध का कारण बनता है और समाज में भी अस्वीकार्य है। उससे समाज में उस व्यक्ति की बदनामी भी होती है।

878. शीलभंग के हमारे अनादि के संस्कार हैं। अनादि से हमें मैथुन संज्ञा का रोग लगा हुआ है।

879. साधक के लिये शीलरक्षा आवश्यक है क्योंकि शीलभंग प्रगाढ़ मोह का कारण बन सकता है।

880. शीलभंग से पापकर्मों का बन्ध होता है, जिससे भविष्य में दु:ख व निगोद प्राप्त होते हैं। इसलिये सभी के लिये शीलभंग से बचना आवश्यक बन जाता है।

881. शीलभंग से क्षणिक सुख मिल भी जाये तो दु:खदायी होता है क्योंकि उसकी बार-बार इच्छा होती रहती है और वह इच्छा भी दु:ख देनेवाली है। शीलभंग की इच्छा व भोग दोनों ही पापबन्ध के कारण हैं, जिनसे भविष्य में दु:ख व निगोद प्राप्त होते हैं। इस कारण से सभी के लिये शीलभंग से बचना आवश्यक बन जाता है।

882. शीलभंग सुख का छलावा मात्र है। वह दु:ख उत्पन्न करने का साधन बन जाता है, जिससे भविष्य में दु:ख व निगोद प्राप्त होते हैं। इस कारण से सभी के लिये शीलभंग से बचना आवश्यक बन जाता है।

883. शीलरक्षा हेतु साधक को विजातीय व्यक्ति से अकेले में मिलना टालना चाहिये। उन्हें घूरघूरकर देखना भी टालना चाहिये।

884. शीलरक्षा अपनी अनादि की मैथुन संज्ञा पर विजय प्राप्त करने हेतु अति आवश्यक है।

885. शीलरक्षा हेतु साधक को सात्त्विक भोजन करना चाहिये। रात्रिभोजन का त्याग अवश्य करना चाहिये। सम्भव हो तब अपराह्न चार बजे से पहले भोजन कर लेना चाहिये।

886. शीलरक्षा हेतु साधक को सात्त्विक फ़िल्में ही देखनी चाहिये। वह फ़िल्म शीलभंग को सीधे या अन्य किसी रीति से प्रोत्साहित करनेवाली नहीं होनी चाहिये।

887. शीलरक्षा हेतु साधक को सादगी से अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये। ज़्यादा सजने-सँवरने से हमारी दूसरों के आकर्षण के पात्र बनने की सम्भावना अधिक हो जाती है, जिससे शीलभंग की सम्भावना भी बढ़ जाती है।

WWW.JAYESHSHETH.COM

888. लोग अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हवाला देकर शारीरिक प्रदर्शन करते हुए कपड़े पहनते हैं। उनकी औरों के आकर्षण के पात्र् बनने की सम्भावना बढ़ जाती है, जिससे शीलभंग की सम्भावना भी बढ़ जाती है। हम कोई भी मूल्यवान वस्तु – रुपये, हीरे-जवाहरात, सोना, इत्यादि खुले में लेकर बाहर नहीं निकलते बल्की वे नहीं दिखें इस सावधानी से लपेटकर बाहर ले जाते हैं। ठीक इसी प्रकार हमें सबसे मूल्यवान इस शरीर को भी ठीक से कपड़े पहनाकर ही बाहर निकलना चाहिये।

889. हम किसी की स्वतन्त्रता के ख़िलाफ़ नहीं हैं, किन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के नाम पर स्वच्छन्दता न तो उचित है और न ही समाज को स्वीकार्य है। सभी को अपने विवेकानुसार ढंग के कपड़े पहनने चाहिये ताकि वे अपने व औरों के शीलभंग में निमित्त न बनें।

890. शीलरक्षा में मन की भूमिका बहुत ही बड़ी है। अनेक साधक शीलरक्षा हेतु तप करते रहने के बावजूद भी मन में विजातीय के विचारों से परेशान रहते हैं क्योंकि वे अपने मन को उसके आकर्षण से मुक्त नहीं कर पाये होते हैं।

891. शीलरक्षा में मन की बहुत ही बड़ी भूमिका है। इसलिये साधक को बारह भावनाओं के द्वारा, ख़ास तौर पर अशुचि भावना के द्वारा अपने मन को विजातीय या सजातीय शारीरिक सम्बन्धों के आकर्षण से विमुख करते रहना चाहिये और मन को ज़्यादा से ज़्यादा आत्मकेन्द्रित विचारों में मगून रखना चाहिये।

892. दूसरों के प्रति चिढ़ रखना या सभी के प्रति चिड़चिड़ापन रखना अपने ही वर्तमान और भविष्य को बिगाड़ने का कारण बनता है।

893. जब हम किसी के प्रति चिढ़ रखते हैं तब पापकर्मों का बन्ध होता है। इस तरह चिढ़ने से वर्तमान में अपनी मनोदशा ख़राब होती है जिससे हम दु:खी होते हैं और वर्तमान में बँधे हुए पाप के उदय से भविष्य में भी दु;ख मिल सकता है।

894. जब हम सभी के प्रति चिड़चिड़ापन रखते हैं तब हम वर्तमान में उस चिड़चिड़ेपन से दु:खी रहते हैं और दूसरों को भी दु:खी करते हैं जिससे हमें पापकर्मों का बन्ध होता है जो हमें भविष्य में भी दु;ख दे सकता है। इससे तय होता है कि चिड़चिड़ापन रखना अपने लिये बहुत ही बड़ा ख़तरा है।

895. चिड़चिड़ापन रखने से दु:खी होने का ख़तरा तो बना ही रहता है, अपनी अक्षय कल्याणरूपी आत्मा की प्राप्ति में भी बाधा उत्पन्न होती है। इसलिये अपनी मनोवृत्ति बदलना बहुत ही आवश्यक हो जाता है।

896. चिड़चिड़ापन रखने से सामनेवाले का कुछ भी बुरा नहीं होता बल्कि अपना ही बुरा होता है। यह बात जिसे समझ में आ जाती है वह इस जीवन को शान्ति से जी सकता है और अपना भविष्य भी उज्ज्वल बना सकता है। फिर हमें चिड़चिड़ेपन से बचाने में कौन बाधक है? हम ख़ुद ही बाधक हैं। इसलिये अपनी मनोवृत्ति बदलना बहुत ही आवश्यक हो जाता है।

897. हमें यह समझने की आवश्यकता है कि बिना पुण्योदय के अपने मन के अनुसार कार्य घटित नहीं होते और हमें अनुकूल संयोग भी नहीं मिलते। इसमें दूसरों के प्रति चिढ़ने की क्या आवश्यकता है? क़ुसूर अपने पापोदय का है और हम चिढ़ रहे है दूसरों पर। क्या यह तर्कसंगत है?

898. जिन्हें चिड़चिड़ापन आता हो उन्हें यह समझना है कि उन्हें स्वप्न में भी पाप करने से डरना है अर्थात् ऐसे लोगों को हर समय चौकन्ना रहना है कि उनसे कोई भी बड़ा पाप न हो, कोई भी जघन्य अपराध न हो जिससे उन्हें भविष्य में दु:ख झेलना पड़े।

899. तर्कसंगत बात यह है कि जब पापोदय के कारण अपने मन मुताबिक़ कार्य नहीं हो रहे हों तब प्रथमतया हमें अपने उन पुराने पापों के लिये सबसे पहले माफ़ी माँगनी चाहिये। दूसरे, हमें यह सोचना चाहिये कि हम अब भविष्य में ऐसे पाप कभी नहीं करेंगे ताकि हमें फिर से ऐसे संयोग प्राप्त न हों। तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण काम यह करना है कि ऐसे संयोगों में जो भी निमित्त बने हों उन्हें अपने पाप धोने में सहायक मानकर अपने मन में उनके प्रति उपकार का भाव लाते हुए उन्हें मन में ही धन्यवाद देना है जिससे हमें उनके प्रति चिढ़ या रोष नहीं होंगे। इससे हमारे पुराने पापकर्म धुल जायेंगे और नये पापकर्म बँधने से बच जायेंगे जिससे हमारे वर्तमान और भविष्य दोनों ही सुधर जायेंगे और आत्मप्राप्ति के पुरुषार्थ में हमारे भाव भी बाधक नहीं बनेंगे।

900. चिड़चिड़ापन रखनेवाले को टोकने से उसका चिड़चिड़ापन बढ़ता है, घटता नहीं। इसलिये उस वक़्त आप शान्त रहकर धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) कीजिये। बाद में, जब वह शान्त हो जाये तब आप उसे प्रेम से समझा सकते हैं। अन्यथा उसी समय टोकने से उसका ग़ुस्सा और बढ़ेगा जिससे उसका चिड़चिड़ापन भी और बढ़ेगा।

901. सभी से चिढ़नेवाले भी कभी-कभी मजबूरी में शान्त रहते हैं मगर उनके मन में तो रोष भरा हुआ ही रहता है जिससे उन्हें पापबन्ध होता है। ऐसे जीव वर्तमान में तो दुःखी होते ही हैं और पापबन्ध के कारण भविष्य में भी दुःखी होते हैं।

902. पुण्य के उदय से हमें धन प्राप्त होता है और हम उस धन को मौज-शौक़ में ख़र्च कर पाप बाँध लेते हैंं। उस पाप से हमें भविष्य में दुःखी और निर्धन अवस्था मिल सकती है। इसमें कौन सी समझदारी है? कृपया सच्चे समझदार बनिये।

903. पुण्य के उदय से हमें धन प्राप्त होता है और हम उस धन को अपने अहं की तुष्टि तथा अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिये धर्मक्षेत्र में ख़र्च करके भी पाप बाँध लेते हैं। उस पाप से हमें भविष्य में दुःखी और निर्धन अवस्था मिल सकती है। इसमें कौन सी समझदारी है? कृपया सच्चे समझदार बनिये।

904. पुण्य के उदय से हमें धन प्राप्त होता है और हम उस धन को राजनीति के लिये, सत्ता हथियाने के लिये धर्मक्षेत्र में ख़र्च करके भी पाप बाँध लेते हैं। उस पाप से हमें भविष्य में दुःखी और निर्धन अवस्था मिल सकती है। इसमें कौन सी समझदारी है? कृपया सच्चे समझदार बनिये।

905. पुण्य के उदय से हमें धन प्राप्त होता है मगर हम समझते हैं कि हमने दूसरों का शोषण किया, उनसे ज़्यादा काम लिया इसलिये हमने ज़्यादा पैसे कमाये। जिससे हमें पाप का बन्ध होता है। उस पाप से हमें भविष्य में दुःखी और शोषित अवस्था मिल सकती है। इसमें कौन सी समझदारी है? कृपया सच्चे समझदार बनिये।

906. सच्ची समझदारी यह है कि पुण्य के उदय से हमें जो भी धन-सम्पत्ति प्राप्त हुई हो उसे हम अपनी ज़रूरत पर ख़र्च कर सकते हैं और अपने भविष्य की ज़रूरतों के लिये रखकर हम उसे बग़ैर अपना नाम दिये एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से धर्मक्षेत्र, धर्मस्थान, ज्ञानदान, साधर्मिक भक्ति, करुणादान, ज़रूरतमन्द लोगों की मदद इत्यादि में ख़र्च करना चाहिये। उससे हमें पुण्य बँधते हैं और उन पुण्यकर्मों से भविष्य में हमें सुख और धन तो मिलते ही हैं पर एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से हमें सबसे अधिक मूल्यवान मोक्षमार्ग भी मिलता है जिससे भविष्य में हमें अनन्त अव्याबाध सुख यानी मोक्ष मिलता है।

907. सच्ची समझदारी इसमें है कि पुण्य के उदय से हमें जो भी धन-सम्पत्ति प्राप्त होनी हो वह हो मगर हम कभी किसी का शोषण नहीं करें क्योंकि हम अगर किसी का शोषण करेंगे तब हमें भी

भविष्य में शोषित होने के लिये तैयार रहना होगा। क्या हमें शोषित होना मंजूर है? अगर नहीं, तो फिर हमें भी कभी भी किसी का शोषण नहीं करना चाहिये।

908. कई लोग धन का उपयोग विश्वपर्यटन में करते हैं, मगर वे अज्ञानवश अपने अनन्तकाल के लिये दु:खों का आरक्षण कर लेते हैं। क्योंकि जहाँ आसक्ति वहाँ उत्पत्ति इस कारण पर्यटन में उन्हे जो भी कुदरती सौंदर्य दिखता है और उस के प्रति वे आकर्षित होते हैं वहाँ उनका जन्म लेना तय हो जाता है। एक बार एकेन्द्रिय में जन्म लेने के बाद एकेन्द्रिय गति से बाहर निकलना बहुत ही कठिन है।

909. अगर हमें किसी कारणवश विश्वपर्यटन में जाना भी पड़ा तो भी हमें वहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य नहीं बल्कि असंख्य एकेन्द्रिय जीवराशि के दु:ख दिखने चाहिये। उनके प्रति करूणा आनी चाहिये क्योंकि वही अपना भी भूतकाल है और अगर सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त नहीं किया तब वह अपना भविष्य भी है। आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से इस तरह का चिन्तन करने से हम एकेन्द्रिय गति से बच सकते हैं।

910. कई लोग धन का उपयोग यथेच्छ खाने-पीने में करते हैं जिससे वे इस भव में रोगग्रसित होकर दु:खी होते हैं और अज्ञानतावश वे भक्ष्य-अभक्ष्य के विवेक को भूलकर अपने अनन्तकाल के लिये दु:खों का आरक्षण कर लेते हैं। इसमें कौन सी समझदारी है? कृपया सच्चे समझदार बनिये।

911. सच्ची समझदारी यह है कि खाने-पीने के मामले में हम भक्ष्य-अभक्ष्य के विवेक अनुसार अपने शरीर को साधन और भोजन को ईन्धन मानकर खायें-पियें। और भविष्य में अनाहारी (सिद्ध) बनने के लक्ष्य से जीवन जीने के लिये शरीर को साधन बनाना चाहिये।

912. धन के पीछे भागनेवालों को पुण्योदय से ही धन मिलता है। यदि उनके पाप का उदय होगा तो धनप्राप्ति नहीं होगी जिससे वे दु:खी होंगे। इससे उन्हें नया पापबन्ध होगा। दोनों ही संयोगों में उन्हें धन के पीछे भागने से पापबन्ध अवश्य ही होगा। इसमें कौन सी समझदारी है? कृपया सच्चे समझदार बनिये।

913. सच्ची समझदारी यह है कि हम अपना कम से कम समय धनार्जन में लगायें और अधिक से अधिक समय सत्य धर्म की प्राप्ति में लगायें। जिससे हमें अपने पुण्योदय के अनुसार धनप्राप्ति भी होगी और कम से कम पापबन्ध होगा। और जो भी समय हम सत्य धर्म की प्राप्ति में लगायेंगे उससे हमें मोक्षमार्ग की प्राप्ति के साथ पुण्य भी अर्जित होगा, जिससे हमें भविष्य में मोक्षप्राप्ति तक

WWW.JAYESHSHETH.COM

अनुकूल संयोग भी प्राप्त होंगे। ज्ञातव्य है कि एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से किये गये पुण्य से भविष्य में हमें सुख और धन तो मिलते ही हैं पर सबसे अधिक मुल्यवान मोक्षमार्ग भी मिलता है जिससे हमें भविष्य में अनन्त अव्याबाध सुख यानी मोक्ष मिलता है।

914. एकान्त प्ररूपणा हमें सम्यक् समझ की ओर नहीं ले जा सकती।

915. एकान्त प्ररूपणा एक अपेक्षा से सच हो सकती है। इसलिये उसे हम उस अपेक्षा से सत्य मान सकते हैं। परन्तु बिना उस अपेक्षा के हम उसे सच नहीं मान सकते, अर्थात् एकान्त से उसे सच नहीं मान सकते।

916. कर्मनय से हम यह कह सकते हैं कि "पुराने कर्मों से नये कर्म बन्धते हैं" और इसीलिये हम अनादि से आज तक संसार में रुल रहे हैं। क्योंकि जब पुराने कर्मों के उदय से जीव जुड़ जाता है तब नये कर्म बन्धते हैं। परन्तु जीव सत्य धर्म के पुरुषार्थ से पुराने कर्मों के उदय से पहले ही उनको निरस्त कर सकता है। अथवा वह उन्हें प्रदेश उदय से भी भोग सकता है, जिससे वह नये कर्मबन्ध से बच सकता है।

917. अगर हम एकान्त से यह मानें कि "पुराने कर्मों से नये कर्म बन्धते हैं" और इसलिये यह संसार कभी रुक नहीं सकता और हमारी सांसारिक भटकन कभी थम नहीं सकती तो फिर हम कभी भी सत्य धर्म के अनुसार पुरुषार्थ करने के लिये प्रेरित नहीं होंगे, जो कि संसारमुक्ति हेतु परम आवश्यक है। बिना मुक्ति प्राप्त किये हम अनन्त काल तक दुःखी हो सकते हैं।

918. अगर हम एकान्त से यह मानें कि "पुराने कर्मों से नये कर्म बन्धते हैं" और नियति के अनुसार जब हमारी मुक्ति होनी होगी उस समय मुक्ति हो जायेगी तो फिर हम कभी भी सत्य धर्म के अनुसार पुरुषार्थ के लिये प्रेरित नहीं होंगे, जो कि संसारमुक्ति हेतु परम आवश्यक है। बिना मुक्ति प्राप्त किये हम अनन्त काल तक दुःखी हो सकते हैं।

919. अगर हम एकान्त से यह मानें कि क्रमबद्धपर्याय के अनुसार जब हमारी मुक्ति होनी होगी उस समय निश्चित तौर पर मुक्ति हो ही जायेगी तो फिर हम कभी भी सत्य धर्म के अनुसार पुरुषार्थ के लिये प्रेरित नहीं होंगे, जो कि संसारमुक्ति हेतु परम आवश्यक है। बिना मुक्ति प्राप्त किये हम अनन्त काल तक दुःखी हो सकते हैं।

920. कई लोग यह मानते हैं कि कर्मों का जीव के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है क्योंकि कर्म पुद्गलद्रव्य है और जीव चेतनद्रव्य है। दो भिन्न द्रव्यों में निश्चय से कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। मगर एकान्त से ऐसा मानने से जीव कभी भी कर्मों से छूटने के पुरुषार्थ के लिये प्रेरित नहीं होगा जो कि संसारमुक्ति हेतु परम आवश्यक है। बिना मुक्ति प्राप्त किये वह जीव अनन्त काल तक दु:खी हो सकता है।

921. कर्म और जीव में कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं माननेवाले जीव के परिणमन (पर्याय) का कारण जीव की तत्समय की योग्यता को मानते हैं। यहाँ हमें यह समझना आवश्यक है कि वह तत्समय की योग्यता कर्मों के कारण ही तो होती है। क्योंकि जिन्हें हम पुद्गल कर्म मानते हैं वे भी उस जीव के पुराने भावों को ही दर्शाते हैं। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि निश्चय नय से जीव का उसके अपने पुराने भावों के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध है। इसी वजह से उस जीव के पुराने भावों के अनुसार (कर्मों के अनुकूल) ही उसकी वर्तमान में तत्समय की योग्यता बनती है, अर्थात् वह जीव अपने पुराने भावों के अनुसार ही वर्तमान में परिणमित होता है।

922. जब हम जीव का कर्मों के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध का उल्लेख करते हैं तब निश्चय से हमें उस जीव का उसी के पुराने भावों के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध समझना है न कि पुद्गल कर्मों के साथ क्योंकि वे तो अलग द्रव्य हैं। हमें समझना यह है कि आख़िर वे कर्म भी उस जीव के पुराने भावों को ही दर्शाते हैं, ज़ाहिर करते हैं। इसलिये जीव का कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहा गया है।

923. कई लोग कर्म को जीव से भिन्न पुद्गल द्रव्य होने की वजह से जीव का परिणमन कर्मों से स्वतन्त्र मानते हैं, निरपेक्ष मानते हैं। उन्हें यह समझना आवश्यक है कि कर्म तो जीव के पुराने भावों का प्रतिनिधि ही हैं, प्रतिबिम्ब ही हैं। इसलिये हमें जीव का परिणमन कर्मों से निरपेक्ष नहीं सापेक्ष मानना चाहिये। जीव का कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मानना चाहिये।

924. जब तक बन्धे हुए कर्म सत्ता में हैं, उदयावलि में नहीं आये हैं तब तक हम सत्य धर्म के अनुसार पुरुषार्थ करके उन्हें हल्का बना सकते हैं। कर्म अगर निकाचित भी हों तो भी हम उनका अनुबन्ध तो बदल ही सकते हैं। इसलिये हमें सदैव सत्य धर्म के अनुसार पुरुषार्थ करते रहना चाहिये।

925. जब कोई जीव सत्य धर्म के अनुसार पुरुषार्थ करना प्रारम्भ कर देता है तो उसके जीवन से बात-बात में लड़ने-भिड़ने के भाव, मरने-मारने के भाव विलीन होने लगते हैं। ऐसे भावों का स्थान चार भावना, बारह भावना, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) इत्यादि ले लेते हैं। इससे वह जीव कर्म के विषचक्र से बच जाता है।

926. जीव अपने सत्य धर्म के अनुसार पुरुषार्थ - जो कि चार भावना, बारह भावना, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) इत्यादि के रूप में पुरुषार्थ करता है वह तभी सफल हो सकता है जब वह उसे एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से करे। अर्थात् मुक्ति हेतु किया गया पुरुषार्थ ही उसे अनन्तकाल के दु:ख से बचा सकता है।

927. जीव इस छोटे से मानव जीवन के लिये अत्यधिक ऐशो-आराम का आयोजन करता रहता है। मगर उसे यह पता नहीं है कि मनुष्यभव से निकलकर वह कहाँ जायेगा। और इस जन्म में सत्य धर्म के अनुसार पुरुषार्थ नहीं करके वह अपने लिये अनन्तकाल तक दु:ख का ही आरक्षण कर रहा है।

928. जीव को सच्चा आराम और सच्ची ख़ुशी एकमात्र मोक्ष में ही मिल सकते हैं और कहीं नहीं। जीव को यह पता नहीं होने से वह इस मनुष्यभव में ही ऐशो-आराम और ख़ुशी ढूँढता है, जो कि उसे नहीं मिल सकते।

929. जीव को यह पता नहीं होने से कि अनन्तकाल के लिये सच्चा सुख एकमात्र मोक्ष में ही मिल सकता है, वह इस मनुष्यभव में ही सुख ढूँढता है। इसी लिये सत्य धर्म के अनुसार पुरुषार्थ करना तो दूर वह उसे आवश्यक भी नहीं मानता।

930. मनुष्यभव में ही सुख ढूँढने से पुण्य नहीं पाप बन्धते हैं। इससे इस भव में आकुलतारूपी दु:ख ही मिलता है और भविष्य में भी उस आकुलता से बन्धे हुए पाप के उदय से दु:ख मिल सकता है।

931. जीव को यह पता नहीं होने से कि अनन्तकाल के लिये सच्चा सुख एकमात्र मोक्ष में ही मिल सकता है, वह इस मनुष्यभव को देवभव के सुखों की प्राप्ति की साधना में लगाता है। ऐसे में उसका वह पुरुषार्थ निदानयुक्त होने से उसके दु:ख का ही कारण बनेगा।

932. इस मनुष्यभव में साधना का परिश्रम करके किसीने देवगति पा भी ली तो उस देवभव का भी अन्त होने वाला है। उस देवायु के समाप्त होने के बाद में जीव कहाँ जायेगा यह भी उसे पता नहीं होता। और वैसा देवभव पाने का पुरुषार्थ उस जीव को अनन्तकाल के दु:खों से नहीं बचा सकता।

933. जिस जीव को देवगति में सुख दिखता है उसे सच्चे सुख की पहचान ही नहीं है। उसे यह भी नहीं पता कि यदि वह इस मनुष्यभव को देवगति पाने के लिये गँवाता है तो उसका अनन्तकाल दु:खमय बन सकता है।

934. सभी जीवों को सच्चे सुख की पहचान कर उसी को पाने के लिये अपना सारा पुरुषार्थ लगाना चाहिये। प्रमादवश अपना अमूल्य मनुष्यभव व्यर्थ जाने देने जैसा नहीं है।

935. इस मनुष्यभव में हमें एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से अपना पूरा पुरुषार्थ उसी के लिये लगाना चाहिये। अन्यथा हमें अनन्तकाल के दु:ख से कोई बचा नहीं सकता।

936. कई लोग मौन को भी धर्मसाधना समझकर कुछ दिनों के लिये या जीवनभर के लिये मौनव्रत रखते दिखते हैं। मगर आत्मप्राप्ति का लक्ष्य न होने से वह मौनव्रत उन्हें अनन्तकाल के दु:ख से बचा नहीं सकता।

937. कुछ दिनों के लिये या जीवनभर के लिये मौनव्रत लेते समय उस साधक को यह जाँचना आवश्यक है कि मुझे क्या पसन्द है? उत्तर में यदि सांसारिक इच्छाएँ हैं तो समझना चाहिये कि पहले मुझे उन इच्छाओं तथा आकांक्षाओं के ऊपर काम करने की आवश्यकता है। और मौनव्रत को हठयोग के रूप में न लेकर सहजयोग में जाना चाहिये, जिसमें वह जीव को ज़रूरत से ज़्यादा बोलने से बचना चाहिये अर्थात् मन-वचन-काया की गुप्ति रखनी चाहिये।

938. अगर हम मौनव्रत को ही आत्मा की साधना मान लेंगे तब हम उसी में अटक जायेंगे। इसलिये मौनव्रत को साध्य न समझकर उसे साधन जानकर ज़रूरत से ज़्यादा न बोलते हुए सत्य धर्म का पुरुषार्थ करना चाहिये अर्थात् चार भावना, बारह भावना, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) इत्यादि का गहनतम मनन, चिन्तन तथा अनुभवन करते हुए, मन-वचन-काया का कम से कम दुरुपयोग करते हुए जीवन जीना चाहिये।

939. मोटे तौर पर मौन रहना अच्छा माना जाता है मगर जब बात प्रश्न करके अध्यात्म या सत्य धर्म समझने की हो या फिर किसी को समझाने की हो तो हमें मौन न रहकर ज़रूरत के अनुसार बोलना भी चाहिये।

940. जब लोग श्मशानयात्रा या मैयत में जाते हैं तब थोड़ी देर के लिये उन्हें अपनी मृत्यु का डर लग सकता है मगर बाद में वे सब कुछ भूलकर स्वयं को अमर मानकर जीने लगते हैं। इसी को श्मशानवैराग्य कहा जाता है।

941. अध्यात्म के साधक के लिये वैराग्य बहुत ही आवश्यक होता है। बिना जिनवचन के अनुशासन में रहे साधक के जीवन में वैराग्य खिल नहीं सकता।

942. लौकिक जीवन में भी अनुशासन का बहुत ही महत्व होता है। अध्यात्म के साधक के लिये सदैव ही जिनवचन के अनुशासन में रहना परम आवश्यक बन जाता है।

943. जिनवचन के अनुशासन में न रहने से कभी-कभी आया हुआ वैराग्य चले जाने में वक़्त नहीं लगता।

944. साधक का हर कार्य जिनवचन के अनुशासन सापेक्ष होना चाहिये। जिनवचन के अनुशासन निरपेक्ष कार्य अनन्त काल के लिये अनन्त दुःख देने में समर्थ है।

945. जिसे जिनवचन का अनुशासन मान्य है और प्रिय है, उसे तुरन्त ही मोक्षमार्ग और आगे चलकर मोक्ष भी मिल सकता है। इसलिये सभी साधकों को जिनवचन के अनुशासन से ही जीना चाहिये।

946. लौकिक जीवन में भी हम लोगों के संस्कार देखकर ही उनका आकलन करते हैं। बच्चों को भी हम अच्छे (जिन्हें हम अच्छे मानते हों वही) संस्कार देने की कोशिश करते रहते हैं। फिर अध्यात्म में हम संस्कार को कैसे अनदेखा कर सकते हैं?

947. अध्यात्मसाधक को स्वयं को अच्छे संस्कारों से संस्कृत करते रहना चाहिये। जो लोग अपने ग़लत संस्कारों को अनदेखा कर उन्हीं में लिप्त रहकर अपनी साधना में आगे बढ़ने का पुरूषार्थ करते रहते हैं उन्हें सफलता मिलना कठिन ही है।

948. अपना मन सदैव अपनी पसन्द-नापसन्द के अनुसार संस्कृत होता रहता है। हमें अपने मन को सदैव सम्यक् धारणाओं से संस्कृत करते रहना चाहिये जिससे अपनी अध्यात्मयात्रा सही दिशा में चले।

WWW.JAYESHSHETH.COM

949. मन की प्रतिक्रिया अपने संस्कार के अनुसार होती है। इसलिये अगर हमें अपनी प्रतिक्रिया सम्यक् बनानी है तो मन को सम्यक् धारणाओं से संस्कृत करना अनिवार्य है।

950. मन को सम्यक् धारणाओं से संस्कृत करने के लिये पहले स्वयं को सम्यक् धारणाओं का निर्णय करना आवश्यक है। उसके लिये शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन आवश्यक है।

951. शास्त्रों के सम्यक् अध्ययन से निर्णीत सम्यक् धारणाओं का चिन्तन-मनन करने से मन संस्कृत होता रहता है।

952. मन को सम्यक् धारणाओं से संस्कृत करते रहने से हमें तुरन्त ही मोक्षमार्ग मिल सकता है। इसलिये सभी मोक्षेच्छुओं को अपने मन को सम्यक् धारणाओं से संस्कृत करते रहना चाहिये।

953. सभी साधकों को सदैव सावधान रहना चाहिये कि ग़लती से भी मन को ग़लत धारणाओं से संस्कृत न करें। एतदर्थ उन्हे विवेकपूर्वक शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन करते रहना चाहिये।

954. मोक्षमार्ग में भी सदैव यह भय बना रहता है कि सावधानी हटी तो दुर्घटना (आत्मा की दुर्गति) घटी। इसलिये सभी साधकों को सदैव-आजीवन सावधान रहना चाहिये और अपनी साधना में आगे बढ़ते रहना चाहिये।

955. विषयासक्ति के हमारे अनादि के संस्कार होने से हमें यह चिन्तन करना चाहिये कि अनादि से हमने एक-एक विषय के पीछे भागकर अनन्तानन्त दु:ख भोगे हैं। यह सिलसिला कब तक जारी रखना है? यह दु:ख कब तक भोगते रहना है? इन दु:खों का अन्त कब करना है?

956. विषयासक्ति से सुख (सुखाभास) कम और दु:ख ज़्यादा मिलता है। ऐसी विषयासक्ति कौन रखना चाहेगा? मगर इस बात का एहसास न होने से ही हमने अनादि से विषयासक्ति को पालपोसकर बनाये और बढ़ाये रखा है। उसे आनन्ददायक मान रखा है।

957. अनादि से हमने विषयासक्ति में अन्धे बनकर अनन्त परावर्तन किये हैं, अनन्त दु:ख भोगे हैं। इसका एकमात्र कारण है मिथ्यात्व। इसलिये हमें त्वरा से मिथ्यात्व से नजात पानी चाहिये। उसके लिये आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन) आवश्यक है। इसलिये सभी को एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से धर्माचरण करते रहना चाहिये।

958. कई लोग विषयासक्ति को समाप्त करने हेतु भोग भोगने की सलाह देते हैं। परन्तु उन्हें यह पता होना चाहिये कि विषयसेवन से उनकी माँग कम नहीं होती बल्कि बढ़ती है, उसके संस्कार दृढ़ होते हैं।

959. कई लोग विषयासक्ति को समाप्त करने के लिये भोग भोगने की सलाह देते हैं। परन्तु उन्हें यह सोचना चाहिये कि अनादि से हमने अनन्त बार अनन्त विषयसेवन किये हैं फिर भी यह विषयासक्ति समाप्त क्यों नहीं हुई? इसलिये विषयासक्ति को समाप्त करने का मार्ग विषयसेवन नहीं बल्कि विषयविरक्ति है।

960. विषयसेवन से विरक्ति पाने हेतु हमें बारह भावनाओं का चिन्तन-मनन करते रहना चाहिये। और अपनी अनादि की दुःखभरी कहानी को भी नहीं भूलना चाहिये। विषयसेवन के कटु-विपाक के बारे में सोचना चाहिये।

961. विषयसेवन के कटु-विपाक यानी विषयसेवन से पहले उसे पाने की आकुलता का दुःख, विषयसेवन के वक़्त थकान का दुःख, भविष्य में विषयसेवन की इच्छा से और विषयसेवन से बँधे पाप के फलस्वरूप दुःख की प्राप्ति। इस तरह विषयसेवन के कटु-विपाक के बारे में सोचकर हम विषयसेवन की इच्छा से मुक्त हो सकते हैं।

962. सबसे पहले हमें विषयसेवन की इच्छा से मुक्ति पानी चाहिये, फिर कालक्रम से विषयसेवन से मुक्ति अवश्य मिलती है। क्योंकि जब किसी जीव की विषयसेवन की इच्छा ही समाप्त हो गयी हो तो वह जीव सम्भव हो तब तक विषयसेवन के दलदल से बचने की कोशिश अवश्य ही करेगा।

963. जब किसी जीव के पाप का उदय हो तब उसे निराश न होते हुए सत्य धर्म का सेवन करना चाहिये जिससे उसके मन की शान्ति बनी रहे और पाप भी हल्का हो जाये।

964. जब कोई जीव एकमात्र आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन) के लक्ष्य से सत्य धर्म का सेवन करना प्रारम्भ करता है तब उसके पाप कमज़ोर होते हैं और पुण्य पुख़्ता बनते हैं।

965. वर्तमान काल में जीव को प्रायः दुःख के कारण ही धर्म की याद आती है। इसलिये कई बार पाप का उदय जीव के लिये धर्मप्राप्ति का मार्ग भी बन सकता है।

966. पाप के उदय से जब जीवन में दुःख आते हैं तब सबसे पहले उस पाप के लिये हमें माफ़ी माँगनी चाहिये, आगे यह सोचना चाहिये कि भविष्य में ऐसे पाप मैं कभी नहीं करूँ। उस दुःख के

निमित्त को हमें पाप से छुड़ानेवाला समझकर उसे मन में धन्यवाद देना चाहिये। ऐसा करने से हमें निमित्त के ऊपर ग़ुस्सा या दुर्भाव या रोष नहीं आयेगा।

967. जब पाप के उदय के कारण जीवन में दु:ख आते हैं तब कई जीवों को धर्म की याद अवश्य आती है। मगर इस काल में सत्य धर्म तो बहुत ही कम लोगों को मिलता है। उनमें से भी बहुत कम लोग उसे पहचान सकते हैं।

968. पाप के उदय के कारण आये हुए दु:ख में अगर किसी को सत्य धर्म मिला भी और उन्होंने उसे पहचाना भी, फिर भी बहुत कम लोग उसके अनुसार जीवन बदल पाते हैं। बहुत ही कम लोग उसके अनुसार अपनी समझ बना पाते हैं।

969. इस काल में सत्य धर्म मिलना, उसे पहचानना, उसके अनुसार अपनी सोच बदलना, अपना जीवन बदलना, सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) पाना वह एक-एक से अधिक दुर्लभ है।

970. जिसे दूसरों का दिल दुखाना अच्छा लगता है, दूसरों को दु:ख देना अच्छा लगता है, दूसरों को दु:खी देखना अच्छा लगता है, दूसरों के दु:ख से आनन्द आता है वैसे जीव को बहुत ही तीव्र पापबन्ध होता है।

971. दूसरों को दु:खी देखकर आनन्द लेनेवाले जीव पर जब उस पाप का उदय आता है तब वह उसके तीव्र दु:ख का कारण बनता है। उसे वैसा दु:ख बहुत ही लम्बे काल तक झेलना पड़ सकता है। इसलिये हमें दूसरों के दु:ख से आनन्द नहीं परन्तु पाप से बचने का सबक़ लेना चाहिये।

972. दूसरों को दु:खी देखकर या दु:खी करके आनन्द लेनेवाले प्राय: नरक में जाते हैं और असंख्यात काल के लिये दु:खी होते हैं। क्योंकि ऐसे जीव प्राय: नरक से निकलकर क्रूर तिर्यंच बनते हैं और वापस नरक में जाते हैं और इस चक्कर में फँसकर अनन्त दु:ख पाते हैं। इसलिये हमें दूसरों के दु:ख से आनन्द नहीं अपितु पाप से बचने का सबक़ लेना चाहिये।

973. दूसरों को प्रताड़ित करके आनन्द लेने वाले जीव पर जब उस पाप का उदय आता है तब वह उसके तीव्र दु:ख का कारण बनता है। उसे वैसा दु:ख बहुत ही लम्बे काल तक झेलना पड़ सकता है, प्रताड़ित होना पड़ सकता है। इसलिये हमें दूसरों को प्रताड़ित करके आनन्द नहीं लेना चाहिये, किसी को प्रताड़ित करना ही नहीं चाहिये।

WWW.JAYESHSHETH.COM

974. कई लोग दु:ख से बचने के लिये पाप छोड़ते हैं और सुख पाने के लिये पुण्य करते हैं। वे पुण्य को ही धर्म मानते हैं। उन्हें यह समझना आवश्यक है कि पुण्य किसी भी जीव को अनन्त काल के लिये दु:ख से बचा नहीं सकता। अनन्त काल के लिये दु:ख से बचने के लिये कर्मों से मुक्ति (मोक्ष) आवश्यक है। और उसके लिये आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) आवश्यक है। इसलिये सभी को एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभ में रहना चाहिये।

975. प्राय: हम जो देते हैं, वही हम पाते हैं। इसलिये हमें दूसरों को वही देना चाहिये जो हमें पसन्द है। दूसरों के बारे में वही सोचना चाहिये जो हमें पसन्द है, जो अगर हमारे साथ हो तो हमें अच्छा लगे।

976. कई लोग दु:ख आने पर विषादग्रस्त या चिन्ताग्रस्त हो जाते हैं। मगर उन्हें यह पता नहीं होता कि विषादग्रस्त या चिन्ताग्रस्त होने से (आर्तध्यान के कारण) पाप का बन्ध होता है। विषादग्रस्त या चिन्ताग्रस्त होने से वे वर्तमान में दु:खी हैं और उससे हुए पापबन्ध के कारण भविष्य में भी दु:खी होंगे। इसलिये उन्हें दु:ख आने पर विषादग्रस्त या चिन्ताग्रस्त न होकर धर्मध्यानरूप चिन्तन करके उस दु:ख के समय में भी धर्ममय रहना चाहिये।

977. कई लोग दु:ख आने पर विषादग्रस्त या चिन्ताग्रस्त हो जाते हैं। इससे उन्हंॅ पापबन्ध के अतिरिक्त शारीरिक व्याधि भी हो सकती है। इससे वर्तमान में उनके मन और तन दोनों दु:खी होते हैं और उससे हुए पापबन्ध के कारण भविष्य में भी दु:खी होंगे। इसलिये उन्हें दु:ख आने पर विषादग्रस्त या चिन्ताग्रस्त न होकर धर्मध्यानरूप चिन्तन करके उस दु:ख के समय में अपने मन और तन दोनों को प्रसन्न रखना चाहिये।

978. क्रोध दूसरों से अच्छे सम्बन्ध रखने में अड़चन बनता है। क्रोध हमें दूसरों की बात शान्ति से समझने नहीं देता। क्रोध हमें गुरू से डाँट खाकर सुधरने से रोकता है। इसलिये जिसे सत्य की खोज है उसे पहले क्रोध को मन्द करने पर काम करना चाहिये।

979. क्रोध हमें ऐसा अहसास कराता है कि जैसे हमारे साथ बहुत बड़ा अन्याय हुआ है, हमें किसी से कुछ समझने की आवश्यकता ही नहीं है, इत्यादि। इससे हम तत्त्वज्ञान से वंचित रह जाते हैं, सत्य से वंचित रह जाते हैं। इसलिये क्रोध अवश्य ही छोड़ने जैसा है।

980. क्रोधवश हम दूसरों को तुच्छ समझने लगते हैं जिससे हमें पापबन्ध होता है जो हमें भविष्य में दु:ख देने में समर्थ होता है। इसलिये क्रोध छोड़कर हमें सभी जीवों को एक समान दृष्टि से देखना चाहिये और पापबन्ध से (दु:खों से) बचना चाहिये।

981. क्रोध के कारण लोग अपने आप को महान मानने लगते हैं। जिससे वे अपनी कई तरह की अज्ञानताओं को संजोये रखते हैं, जिससे वे अपना ही नुक़सान कर लेते हैं।

982. क्रोध के कारण ऐसे पाप का बन्ध होता है जिससे वह जीव उस पाप के उदय में प्रताड़ना पाता है और जीवनभर दूसरों के रोष का पात्र बनता है। कभी-कभी तो कई जन्मों तक दूसरे जीवों के रोष को झेलता है, प्रताड़ना सहन करता है। ऐसे कटु फल को सामने रखकर सभी को क्रोध का तुरन्त ही त्याग करना चाहिये।

983. प्राय: क्रोधी जीव पापबन्ध के कारण अनन्त दु:ख पाता है। ऐसा कटु फल देनेवाला क्रोध बड़ा ही महँगा सौदा है, ऐसा महँगा सौदा कौन करेगा? कोई नहीं करेगा। फिर भी कई जीव अनादि के अज्ञानवश क्रोध को पाले हुए हैं।

984. प्राय: क्रोध जीव को अन्धा बना देता है, विवेकहीन बना देता है जिससे वह अनन्त काल तक तुच्छ योनि में भटकता है। उसे तुच्छ जीव के रूप में जन्म लेना पड़ता है। ऐसा कटु फल देनेवाला क्रोध बड़ा ही महँगा सौदा है, ऐसा महँगा सौदा कौन करेगा? कोई नहीं करेगा। फिर भी कई जीव अनादि के अज्ञानवश क्रोध को पाले हुए हैं।

985. अहंकार हमें दूसरों से सीखने नहीं देता क्योंकि हमारा अहंकार हमें दूसरों से विनम्र भाव से प्रश्न करने से रोकता है। इसलिये जिसे सत्य की खोज है उसे पहले अहंकार दूर करने पर काम करना चाहिये।

986. अहंकार हमें ऐसा अहसास कराता है कि जैसे हमें सब कुछ मालूम हो, हमें किसी से कुछ सीखने की आवश्यकता ही नहीं हो, इत्यादि। इससे हम तत्त्वज्ञान से वंचित रह जाते हैं, सत्य से वंचित रह जाते हैं। इसलिये अहंकार अवश्य ही छोड़ने जैसा है।

987. अहंकारवश हम दूसरों को तुच्छ समझने लगते हैं। जिससे हमें पापबन्ध होता है, जो कि हमें भविष्य में भी दु:ख देने में समर्थ होता है। इसलिये अहंकार छोड़कर हमें सभी जीवों को एक समान दृष्टि से देखना चाहिये और पापबन्ध से (दु:खों से) बचना चाहिये।

988. अहंकार के कारण लोग अपने आप को सम्पूर्ण मानने लगते हैं। जिससे वे अपने कई प्रकार के अज्ञान को संजोये रखते हैं, जिससे वे अपना ही नुक़सान कर लेते हैं।

989. अहंकार के कारण ऐसे पाप का बन्ध होता है जिससे वह जीव उस पाप के उदय में तुच्छपन पाता है और जीवनभर रुसवाइयाँ झेलता है, बेइज़्ज़ती झेलता है। कभी-कभी तो कई जन्मों तक रुसवाइयाँ झेलता है, बेइज़्ज़ती झेलता है। ऐसे कटु फल को सामने रखकर सभी को अहंकार का तुरन्त ही त्याग करना चाहिये।

990. प्राय: अहंकारी जीव पापबन्ध के कारण अनन्त दुःख पाता है। ऐसा कटु फल देनेवाला अहंकार पालना बहुत ही महँगा सौदा है, ऐसा महँगा सौदा कौन करेगा? कोई नहीं करेगा। फिर भी कई जीव अनादि के अज्ञानवश अहंकार को पाले हुए हैं।

991. प्राय: अहंकार जीव के पतन का कारण बनता है, अनन्त काल तक उसे तुच्छ योनि में भटकाता है, तुच्छ जीव के रूप में जन्म दिलाता है। ऐसा कटु फल देनेवाला अहंकार बहुत ही महँगा सौदा है, ऐसा महँगा सौदा कौन करेगा? कोई नहीं करेगा। फिर भी कई जीव अनादि के अज्ञानवश अहंकार को पाले हुए हैं।

992. मायाचार-कपट-छल-प्रपंच हमें दूसरों से अच्छे सम्बन्ध रखने नहीं देते। मायाचार-कपट-छल-प्रपंच हमें दूसरों की बात सरलता से समझने से रोकते हैं, गुरू से सरल व्यवहार रखने से रोकते हैं। इसलिये जिसे सत्य की खोज है उसे पहले मायाचार-कपट-छल-प्रपंच को छोड़कर सरलता ग्रहण करनी चाहिये।

993. मायाचार-कपट-छल-प्रपंच हमें ऐसा महसूस कराते हैं कि जैसे हम मायाचार-कपट-छल-प्रपंच के द्वारा कुछ भी पा सकते हैं, हमें सीधी तरह से पेश आने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, इत्यादि। इससे हम तत्वज्ञान से वंचित रह जाते हैं, सत्य से वंचित रह जाते हैं। इसलिये मायाचार-कपट-छल-प्रपंच अवश्य ही छोड़ने योग्य हैं।

994. मायाचार-कपट-छल-प्रपंचवश हम दूसरों को छलने के भाव करते हैं, छलने लगते हैं जिससे हमें पापबन्ध होता है जो हमें भविष्य में दुःख देने में समर्थ होता है। इसलिये मायाचार-कपट-छल-प्रपंच को छोड़कर हमें सभी जीवों से सरलतापूर्वक व्यवहार करना चाहिये और पापबन्ध से (दुःखों से) बचना चाहिये।

995. मायाचार-कपट-छल-प्रपंच के कारण लोग स्वयं को लक्ष्यप्राप्ति में निपुण मानने लगते हैं जिससे वे अपनी कई तरह की अज्ञानताओं को संजोये रहते हैं और कई बार उन्हें बढ़ाते भी रहते हैं जिससे वे अपना ही नुक़सान कर लेते हैं।

996. मायाचार-कपट-छल-प्रपंच के कारण ऐसे पाप का बन्ध होता है जिसके उदय में वह जीव छला जाता है और उसे आजीवन दूसरों के द्वारा छला जाना चुपचाप सहन करना पड़ता है। कभी-कभी तो वह जीव कई जन्मों तक तुच्छ योनि पाता है और उसे दूसरों के द्वारा छला जाना चुपचाप सहन करना पड़ता है। ऐसे कटु-फल को सामने रखकर सबको मायाचार-कपट-छल-प्रपंच को तुरन्त ही त्यागना चाहिये।

997. प्राय: मायाचार-कपट-छल-प्रपंचयुक्त जीव पापबन्ध के कारण अनन्त दुःख पाता है। ऐसा कटु फल देनेवाला मायाचार-कपट-छल-प्रपंच बड़ा ही महँगा सौदा है, ऐसा महँगा सौदा कौन करेगा? कोई नहीं करेगा। फिर भी कई जीव अनादि के अज्ञानवश मायाचार-कपट-छल-प्रपंच पाले हुए हैं।

998. प्राय: मायाचार-कपट-छल-प्रपंच जीव को झूठा तथा विवेकहीन बना देते हैं जिससे वह अनन्त काल तक तुच्छ योनि में भटकता है और उसे तुच्छ जीव के रूप में जन्म लेना पड़ता है। ऐसा कटु फल देनेवाला मायाचार-कपट-छल-प्रपंच बड़ा ही महँगा सौदा है, ऐसा महँगा सौदा कौन करेगा? कोई नहीं करेगा। फिर भी कई जीव अनादि के अज्ञानवश मायाचार-कपट-छल-प्रपंच पाले हुए हैं।

999. लोभ-लालच हमें दूसरों से सत्य धर्म सीखने नहीं देते। लोभ-लालचवश हम दूसरों से धन-लाभ के आलावा अन्य कोई प्रश्न करते ही नहीं। इसलिये जिसे सत्य की खोज है उसे पहले लोभ-लालच कम करने पर काम करना चाहिये।

1000. लोभ-लालच हमारे अन्दर ऐसी प्रचण्ड धनलोलुपता जगाते हैं कि हमें हर वक़्त धनलाभ की इच्छा बनी रहती है, हमें वित्तहानि असह्य होती है, इत्यादि। इससे हम तत्त्वज्ञान से वंचित रह जाते हैं, सत्य से वंचित रह जाते हैं। इसलिये लोभ-लालच अवश्य ही छोड़ने योग्य हैं।

WWW.JAYESHSHETH.COM

1000A. प्राय: हमें वही मिलता है जो हम दूसरों को देते हैं। जैसे जब हम ग़ुस्से में किसी को थप्पड़ मारते हैं या उसे गालियाँ देते हैं तो हम जाने-अनजाने में अपने भविष्य में थप्पड़ खाना या गाली सुनना तय कर लेते हैं। हमारे साथ जो भी होता है वह हमारे अपने पूर्वकर्मों का ही फल है यह समझकर धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) का उपयोग करके भविष्य में नये दु:खों से बचना चाहिये।

WWW.JAYESHSHETH.COM

आध्यात्मिक प्रगति के लिये विज़िट करें
www.jayeshsheth.com

मैत्री भावना – सर्व जीवों के प्रति मैत्री चिन्तवन करना, मेरा कोई दुश्मन ही नहीं ऐसा चिन्तवन करना, सर्व जीवों का हित चाहना।

प्रमोद भावना – उपकारी तथा गुणी जीवों के प्रति, गुण के प्रति, वीतरागधर्म के प्रति प्रमोदभाव लाना।

करुणा भावना – अधर्मी जीवों के प्रति, विपरीत धर्मी जीवों के प्रति, अनार्य जीवों के प्रति करुणाभाव रखना।

मध्यस्थ भावना – विरोधियों के प्रति मध्यस्थभाव रखना।

- मुखपृष्ठ की समझ -

अपने जीवन में सम्यग्दर्शन का सूर्योदय हो और उसके फलरूप अव्याबाध सुखस्वरूप सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति हो-यही भावना।

JSBN

ISBN

ISBN 978-93-344-1571-1

9 789334 369953